विष्णुदत्त राकेश

# पर्णगन्धा

हिंदी में आध्यात्मिक और सांस्कृतिक कविताओं की विशेष पहचान रही है। साहित्य और कला की सदाचारमूलकता में यहाँ के ऋषियों और ऋषिकल्प कलाकारों तथा साहित्यकारों का अटूट विश्वास रहा है। प्रस्तुत पुस्तक के कवि का प्रयत्न उसी परम्परा की संरक्षा करते हुए सर्वजनोपयोगी सांस्कृतिक कविताओं के निर्माण का रहा है।

हमें विश्वास है कि भक्ति और संस्कृति की छाया में चलने के लिए उत्सुक सहृदय समाजयात्रियों के लिए ये कविताएँ पाथेय का कार्य करेंगी तथा पाठक वेद के कवि की भावनाओं की ऊँचाइयों तक उठकर अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति कर सकेंगे।

# पर्णगन्धा

*(वेदमन्त्रों का हिन्दी काव्यान्तरण)*
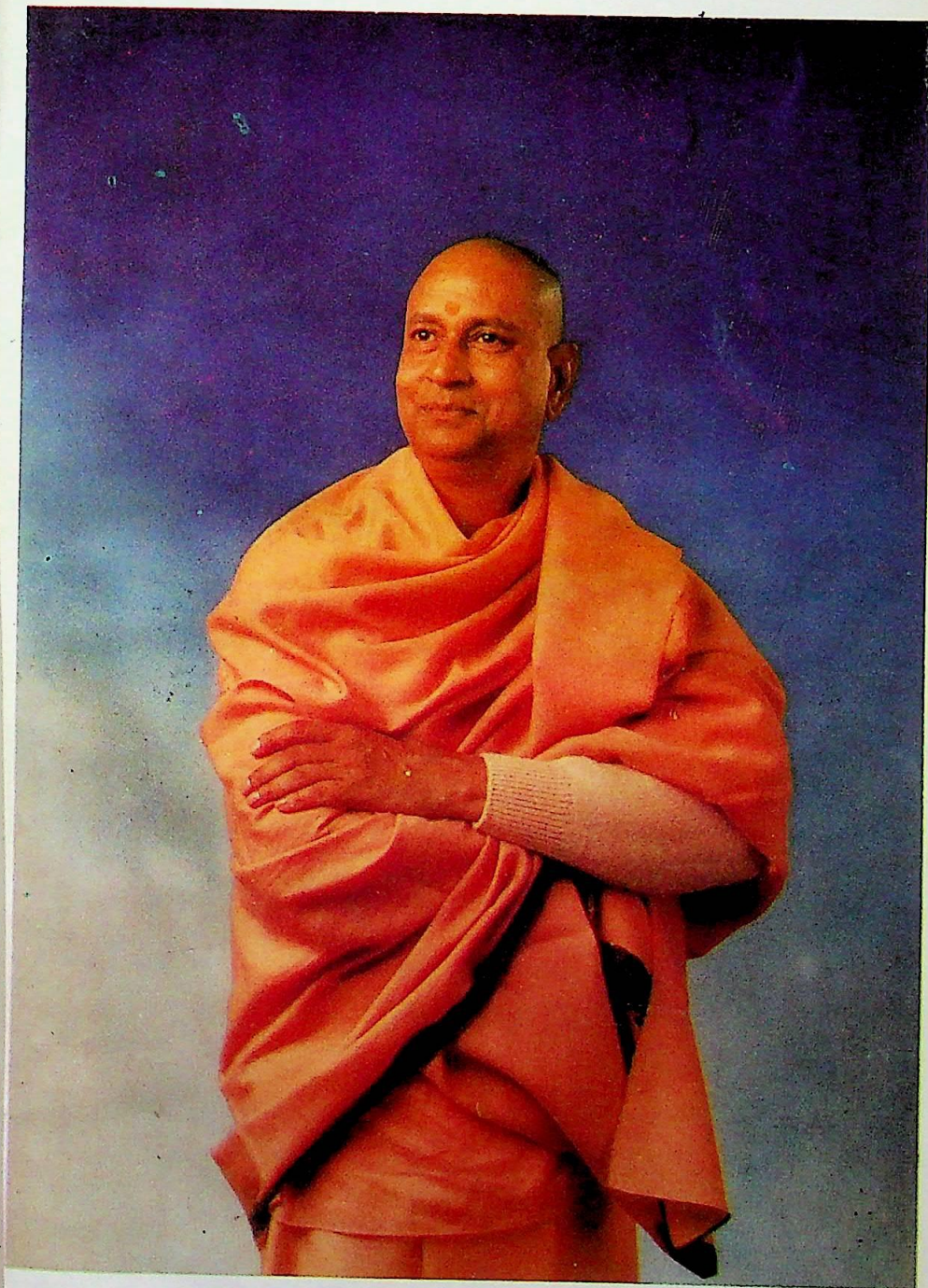
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि

डॉ. विष्णुदत्त राकेश

# पर्णगन्धा

विष्णुदत्त राकेश
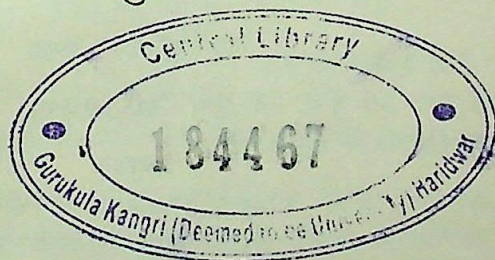


राधाकृष्ण

ISBN 81-7119-226-6

पर्णगन्धा

प्रथम संस्करण : 1995

मूल्य : 145.00 रुपये

**प्रकाशक**
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

आवरण : शिव सिन्हा

**लेज़र कम्पोज़िंग**
कम्प्यूटेक सिस्टम, शाहदरा, दिल्ली-110032

**मुद्रक**
बालाजी ऑफसेट
एम-28, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

PARNAGANDHA by Vishnu Dutt Rakesh

# दो शब्द

श्रुतिपर्णा के बाद वेदमन्त्रों के हिन्दी काव्यान्तरण की दिशा में यह मेरा दूसरा संकलन प्रकाशित हो रहा है। पर्णगन्धा के प्रकाशन पर मेरा आह्लादित होना स्वाभाविक है। हिन्दी में आध्यात्मिक और सांस्कृतिक कविताओं की विशेष पहचान रही है। साहित्य और कला की सदाचारमूलकता में यहाँ के ऋषियों और ऋषिकल्प कलाकारों तथा साहित्यकारों का अटूट विश्वास रहा है। मेरा प्रयत्न उसी परम्परा की संरक्षा करते हुए सर्वजनोपयोगी सांस्कृतिक कविताओं के निर्माण का रहा है। वेद हमारी मूल भावभूमि है। हम उसी पर खड़े होकर मानवता के शिखर का स्पर्श कर सकते हैं।

मुझे विश्वास है कि भक्ति और संस्कृति की छाया में चलने के लिए उत्सुक सहृदय समाजयात्रियों के लिए ये कविताएँ पाथेय का कार्य करेंगी तथा पाठक वेद के कवि की भावनाओं की ऊँचाइयों तक उठकर अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति कर सकेंगे।

मन्त्रों के चयन तथा अर्थ-निर्धारण में आचार्य सायण, महर्षि दयानन्द सरस्वती, आचार्य अभयदेव, आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड तथा डा. रामनाथ जी वेदालंकार के ग्रन्थों से मुझे बड़ी सहायता मिली है। मैं इन सभी आचार्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

आदरणीय गुरुवर डा. नित्यानन्द जी शर्मा ने व्यस्त क्षणों में से कुछ क्षण निकालकर इसके मुद्रण की शुद्धता के लिए भागदौड़ की। उनके सहज स्नेह के लिए कुछ भी कहने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

राधाकृष्ण प्रकाशन के स्वामी भाई अशोक माहेश्वरी को सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए हृदय से साधुवाद।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

**विष्णुदत्त राकेश**
आचार्य हिन्दी विभाग
तथा
अधिष्ठाता मानविकी संकाय

भारतीय धर्म, संस्कृति एवं दर्शन के शलाका-पुरुष
निवर्तमान शंकराचार्य, समन्वययोगी, महामण्डलेश्वर
स्वामी श्री सत्यमित्रानन्द जी गिरि, अध्यक्ष भारतमाता
मन्दिर हरिद्वार को उनकी षष्टि-पूर्ति पर सादर समर्पित

पूज्य आचार्य चरण,
देश-विदेश में परिव्राजक धर्म की ध्वजा लेकर मानव-मुक्ति के सन्देशवाहक के रूप में आपका योगदान स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ जैसी विश्ववन्द्य विभूतियों के साथ स्वर्णाक्षरों में अंकित करने के लिए युग का इतिहास स्वतः स्फूर्त हो उठा है। 'सर्वधर्म समभाव' के संकल्प को जीवन्त करने के लिए आपने भारतमाता मन्दिर के रूप में राष्ट्रदेवता की विराट् चेतना को नवीन अर्थ दिया। मैला आँचल-वसना ग्रामवासिनी भारतमाता के सन्तों, वीरों, राष्ट्रनायकों, वीरांगनाओं, बलिदानियों और देवी-देवताओं की भव्य, पवित्र एवं चित्ताकर्षक प्रतिमाओं की स्थापना कर आपने भारतमाता मन्दिर के रूप में राष्ट्रीय अखण्डता, स्वाधीनता, लोकोत्थान तथा आध्यात्मिक उन्नयन का एक प्रेरक केन्द्र खड़ा कर दिया है। संगमर्मर की चन्दनी शिलाओं में भारतीय अस्मिता के इतिहास को उकेरने की संकल्पना आपके सर्जनात्मक व्यक्तित्व को उजागर करती है। आध्यात्मिक अनुभूति के कवि के रूप में आपकी भावपूर्ण कविताओं को सुनकर त्रिवेणीस्नान का अलभ्य सुख मिलता है। वाग्मिता के धनी ! जिसने आपके सभा मण्डपों को जादू में

बाँध देने वाले व्याख्यान तथा प्रवचन सुने हैं, वह सदा के लिए आपका हो गया। श्रीमद्भागवत की विरहातुरा गोपी के शब्दों में—'सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका'।

हे 'समन्वय योगी', आपका जन्म 19 सितम्बर 1932 ई. को आश्विन मास के कृष्णपक्ष की चतुर्थी को मध्याह्नोत्तर पवित्र मंगलमयी घड़ी में पण्डित शिवशंकर पाण्डेय के यहाँ हुआ। माता श्रीमती त्रिवेणी देवी उच्चकोटि की भक्त एवं पतिसेवी महिला थीं। पिताश्री का जीवन भी सन्त जैसा था। ऐसे संस्कारसम्पन्न, विद्याविनयविभूषित तथा स्वाभिमानी परिवार में पालित-पोषित होने के कारण आपका जीवन भी अपूर्व तेज, त्याग और विद्या का भण्डार वन गया। आपके शैशव से लेकर विरक्त जीवन जीने तक के क्षणों का यदि आकलन किया जाए तो उपनिषद् के ऋषि का जीवन नेत्रों के सम्मुख साकार हो उठता है। क्रान्ति और शान्ति, संग्रह और दान, ज्ञान और भक्ति, आध्यात्मिक अनुभूति तथा रागात्मक संवेदनाओं के विरोधी युग्मों में सन्तुलित व्यवहार रखने वाले 'समन्वय योगी' आप वर्तमान के निर्माता तथा भविष्य के प्रेरक हैं।

आपकी षष्टि-पूर्ति पर अपनी काव्यसाधना का विमलांश अर्पित करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। आशा है, 'पर्णगन्धा' का उपहार आपके ऋषित्व को सुखकर लगेगा।

**ऋषि पंचमी**
**10 सितम्बर, 1994**

सादर
विष्णुदत्त राकेश

## *पर्णगन्धा*

पर्जन्य देव काली गैया सी मूर्ति तुम्हारी,
चार दिशाओं के पयपोषित स्निग्ध स्तनों से,
नभ के नीलकान्तमणि वाले विज्जु चषक में,
भर देती है जीवन शत सहस्रधारा हो,
औषधियाँ अंकुरित धरा की गोद पुलकती,
तुम अकाल में प्यास बिंधे तड़ाग सारस के,
फटे अधर पर निष्पादित कर सोम सुधा-कण,
देते हो उदार सूरज को सुवह-शाम,
पत्तों की गंधिल आहट के क्षण,
शब्ददान के अभ्यासी कवि,
उसी याद में किसी 'पर्णगन्धा' के आगे
खुल पड़ते हैं।
जैसे प्राक् मनीषी ऋषि-ऋषिकाएँ,
संवेदित हो रहे ढूँढ़ते आदिकाल से,
नभ के ठीक समानान्तर धरती के मन को।[1]

---

1. पर्जन्यसूक्त ऋग्वेद 5/83

## एक

**स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः**
**स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु**

**यजु. 25.19**

1. वृद्धश्रवाः=सुप्रसिद्ध, प्रचुर ख्याति वाला, तार्क्ष्य=गरुड़, स्वस्ति=कल्याण, नः=हमारा, पुरन्दर=इन्द्र

इन्द्र करें कल्याण हमारा।
ख्यातिवृद्ध पुरुहूत पुरन्दर करें नित्यप्रति त्राण हमारा।
विश्ववेद, पूषा, सुपर्णखग,
करे अकंटक जीवन का मग,
देव बृहस्पति हरें अमंगल, चमके सुन्दर भाग्य-सितारा।
सुखी, समृद्ध, शान्त हो जीवन,
व्यक्ति राष्ट्र में रहे सन्तुलन,
मोक्ष-मार्ग के राही बनकर पा जाएँ हम अमृत प्यारा।
नेमि, अरिष्ट, दुरित संकट हर,
मन को दें शुभ भावों से भर,
पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण गूँज उठे जयगान हमारा।

## दो

**सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि**
**नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत्।**

**यजु. 32.2**

2. परिजग्रभत्=परिग्रहण, निमेष=काल की छोटी माप, पल, विद्युतः=बिजली के समान प्रकाश रूप, तिर्यक्=टेढ़ा।

परम अकाल पुरुष से प्रकटे,
मापक काल अनन्त निमेष।
व्यक्त हो रहा हर अवयव में,
स्वयं प्रकाश रूप परमेश।।
वह उपाधि के प्रबल भेद से,
हर पदार्थ में है द्युतिमान।
उस विद्युत-आभावाले का,
कर न सका कोई अनुमान।
ऊपर-नीचे आड़े-टेढ़े—
नहीं मध्य से वह है ग्राह्य।
वह अनुभव संवेद्य प्रकाशित,
स्थूल-सूक्ष्म क्या अन्तर्बाह्य।।
ध्यान-योग से उस निगूढ़ का,
करते सदा देवजन ध्यान।
वही प्रार्थना-यज्ञ योग्य है
करता वही भक्त का त्राण।।

## *तीन*

**सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः**
**सह धुम्नेन बृहता विभावरि राया देवी दास्वती।**

**ऋक् 1.48.1**

हे आकाशपुत्री (दुहितर्दिवः) उषा हमारे लिए (वामेन) कान्तिप्रद धन के साथ अन्धकार को समाप्त कीजिए (व्युच्छ) हे विभावरि ऐश्वर्य और यश रूपी धन (धुम्नेन) से हमें सम्पन्न कीजिए। हे दास्त्वती (दानशीला) हमें समस्त वैभव (राया) दीजिए।

ईखों के खेतों में रस की मधुगागर छलकाती,
हरितपीत धानों की कलमों पर चलती इठलाती,
दिनकर की तेजस्वी दुहिता उषा गगन से उतरी।
ओस कणों से धुली बिखरती घर बन में शेफाली,
और अधिक कमनीय हो उठी जपाकुसुम की डाली,
पुष्करिणी पर लगी तैरने कमल दलों की छतरी।
दिनकर की तेजस्वी दुहिता उषा गगन से उतरी।
अन्धकार का श्येन गिरा हत बालारुण के शर से,
झरने लगी सुनहरी कुंकुम ज्योति विहग के पर से,
यज्ञ भूमि के स्वर्णयूप से बँधी किरण की बकरी,
दिनकर की तेजस्वी दुहिता उषा गगन से उतरी।
याजक को ऐश्वर्य दान दे खोल रत्नमंजूषा,
करती है शृँगार गोष्ठ का गोपाली सी ऊषा।

भद्र विचारों से प्रेरित मन करती और प्रणतरी,
री विभावरी पुण्यवान जन की तू रखना पत री।

(2)

व्योम की पावन दुहिता ऊषा,
कान्ति का करो अनूठा दान।
अँधेरा छाया चारों ओर
उलूकों का कर्कश रव घोर
व्याघ्र वृक हिंसक पशु जन दस्यु,
नोचते तनिक न मिलता त्राण।
धान्य धन भोगों का चिरकोश,
बाँट कर करती जग परितोष,
तुम्हारे करतल में आबद्ध,
विविध वैभव विभुता की खान।
विभा से धुली तुम्हारी देह,
दीप्त करती तारों का गेह,
तुम्हारे विना न होता पूर्ण,
सृष्टिकर्ता का यज्ञ महान्।

(3)

दिशाएँ उठीं नींद से जाग,
खेलतीं दिग्वधूटियाँ फाग।
नदी के तट से उड़ते कीर,
पी रहे कमलनाल का क्षीर,

गगन के तिरछे खुले गवाक्ष,
उफनता जिनसे गन्ध समीर।
पलाशों के घन किसलय पुंज
लगाते वन अंचल में आग।
चमकती चम चम किरण कुदाल,
तोड़ती अन्धकार की नाल।
पसरती पूर्व क्षितिज की ओर,
अरुण रथ हय की धूसर खाल।
तिरोहित हो जाता पल एक,
तपी के उर में जगा विराग।
श्रेय के और प्रेय के पंख,
धुले हिमकण से जैसे शंख,
ब्रह्मवर्चस् के शावक हंस
तैरते मानस में निःशंक।
कला जननी दो अमर सुहाग,
प्राणियों में बाँटो अनुराग।

## चार

**आद्या योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती**
**जरयन्ती वृजिनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः।[1]**

**ऋक् 1.48.5**

1. जैसे गृहकुशल महिला (सूनरी योषः) दक्षता से गृह का संचालन करती है, वैसे ही उषा नियत समय पर प्रतिदिन आकर गतिशील जगत् (वृजिनम्) को जीर्ण करती हुई विराटता की ओर ले जाती है। द्विपद, चतुष्पद गतिशील हो उठते हैं। ब्रह्मवेला में दिशाओं की ओर पक्षियों को उड़ने की प्रेरणा देती है।

उषा वधू का नव अभिनन्दन
करते हैं द्रुम लता पुलक तृण,
काम काज में दक्ष सुगृहिणी,
जैसी इसकी जीवन रहनी,
शान्ति सुधा कण बरसा करती,
प्रतिक्षण जीव मात्र का पोषण।
गति, ऊर्जा नव स्फूर्ति प्रदाता,
अप्रमादमय वरद विधाता,
प्रतिदिन यथा समय आ करती,
जड़-चेतन में प्राण संचरण
एकाकी सूनापन हरती,
तम की जीर्ण तरी में भरती,

हीरों की आभा के दाने,
दहक-दहक पड़ते पलाश वन।
    द्विपद चतुष्पद दौड़ लगाते,
    दिशा-दृगों में स्वप्न जगाते,
नीड़ों की तीलियाँ खोलकर
उड़ते नभ में मुक्त विहग गण।
    यह है ध्यान-योग की वेला,
    अक्षय मन्त्र-दान की वेला,
नाद ब्रह्म की खोज लिप्त हो
समाधिस्थ होते योगीजन।

## पाँच

**एता उत्या उषसः केतुमक्रत, पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते**
**निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः, प्रतिगावोऽरुषीर्यन्ति मातरः**

**ऋक् 1.92.1**

अन्तरिक्ष के पूर्वभाग में महान् प्रकाश फैल रहा है। अन्धकार में डूबे जगत् को उषा चेतना प्रदान कर रही है। समर-भूमि में जाने से पूर्व जैसे योद्धा अपने अस्त्र-शस्त्रों की देखभाल करते हैं, वैसे ही तत्पर हो उषा सूर्य को प्रकट करने के लिए सचेष्ट है। तेज का आधार उषा देवियाँ हैं, इन्हें हमारा प्रणाम।

प्राची में फैला अरुण हास।

पीताभ अरुण पर्दों वाली,
शिविका पर चढ़ी उषा आली,
किरणों के तेजस्वी कहार ला रहे उठाकर जिसे पास।

धरती हो या हो आसमान,
ज्यों तना गुलाबों का बितान,
कुछ श्यामल गोरे बैलों पर चल रहा जुआ धरकर प्रकाश।

शुभ कर्मों को करती प्रेरित,
तप-दान-यज्ञ स्वाध्यायनिरत,
यह सोममयी अप्सरा सदृश हरती आँखों की भूख-प्यास।

करती यह समर चेतनामय,
पापों पर हो पुण्यों की जय,
शुभ संकल्पों का ले धनुष-बाण करती अमंगलों का विनाश।

यजमानों का है यही ध्येय,
हो सदा उषा का बल अजेय,
इसकी ही अक्षय कृपा-राशि कर सकती जीवन का विकास।

छः

**संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे**
**सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज।**

**अथर्व 3.10.3**

हे सुखद संवत्सरा माँ,
हम तुम्हारी ही शरण हैं।
चन्द्र रवि दो चक्रवाला
काल का चिर रथ निराला,
शुक्ल श्यामल, अश्व ले दो,
कर रहा नित संचरण है।
सस्य, औषध, फूल, तृण, फल,
तृप्ति कर सरि सिंधु निर्मल,
पा तुम्हारे स्नेह का कण,
कर रहे पोषण भरण हैं।
धान्य, धन-सुख शन्तिकारी,
कामदा छवि-निशि तुम्हारी,
तुष्ट हो अमरत्व देती,
रुष्ट हो करती मरण है।
हों मुदित मंगल दिशाएँ,
दीर्घजीवी हों प्रजाएँ।
आवरण उर का हटाओ,
ज्योति का नव जागरण है।

## *सात*

**यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती**
**सुमंगलीर् विभ्रती देववीतिम् इहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ**



**ऋक् 1.113.12**
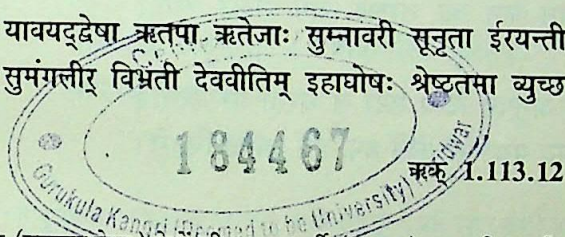
(उषः) हे उषा (यावयद् द्वेषाः) द्वेषों की पृथक् कर्त्री (ऋतपाः) सत्य की पालयित्री (ऋतेजाः) सत्यजाता (सुम्नावरी) सुखमयी (सूनृताः ईरयन्ती) प्रिय सत्यवाणियों की प्रेरिका (सुमंगलीः) सुमंगलमयी (देववीतिं विभ्रती) यज्ञ की धारयित्री (श्रेष्ठतमा) श्रेष्ठतम (तू) (इह) यहाँ (अद्य) आज (वि-उच्छ) तमस् का विवासन कर उद्भासित हो।

हे ऊषा कर तम विदीर्ण नभ-दर्पण में दमको,
तमसाच्छन्न भक्त के उर में हीरक-सी चमको।

अहोरात्र की सुखद शृँखला तुम से ही चलती,
सूर्य-चन्द्र की अघट मशालें तुम से ही जलतीं।

सत्य-धर्म की पालनकर्त्री ऋत जाता देवी,
सुम्नावरी सुखों की दात्री यज्ञों की सेवी,

सत्यात्मिका प्रेरिका वाणी तुम से व्यक्त हुई,
देववीति यज्ञों की वेदी तुमसे सिक्त हुई।

तुमसे ही गृहस्थ प्रेरित हो करते कर्म नये,
वानप्रस्थ, संन्यासी, चिन्तक करते धर्म अये !

ब्राह्म क्षात्र का अद्भुत संगम तुमसे पूर्ण हुआ,
तुमसे ही मुखरित होता है मन का दिव्य सुआ।

वर्णाश्रम धर्मों की प्रेरक श्रेष्ठ कर्मधारी,
साधनरत जन की संरक्षक तुम संकट हारी।

अपनी अनुपम दिव्य छटा ले धरती पर उतरो।
मंगलमय पथ पर चलते हम, हमें शक्ति वितरो।

## आठ

**नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो, न ज्यायानस्ति वृत्रहन्**
**नकिरेवा यथात्वम् ।**

**ऋक् 4.30.1**

(वृत्रहन् इन्द्र) हे वृत्रहन्ता परमात्मन् (नकिः) न तो (त्वत्) तुझसे (उत् तरः) गुणों में अधिक बड़ा और (न) न (ज्यायान्) आयु में अधिक बड़ा (अस्ति) कोई है। (नकिः) न ही (एक) ऐसा है (यथा) जैसा (त्वम्) तू है।

हे वृत्रहन्ता देवता
तुझसे बड़ा कोई नहीं।
तुझको हिमालय के शिखर भी छू नहीं पाए कभी,
भू से उठे स्वर सत्य[1] तक जाकर न लहराए कभी।
महनीय तुम तक बुद्धि भी
जाकर विफल हो लौटती
यह सोचकर व्याकुल थकी आँखें कभी सोई नहीं।
तुझसे बड़ा कोई नहीं।
तुम शत्रुरोधक रुद्र हो, सत्कर्म प्रेरक मित्र हो,
तुम पापनाशक हो वरुण, तुम व्याप्त विष्णु पवित्र हो,
तुम हो स्वयं संसार में
तुम सा न कोई अन्य है

---

1. सत्य–सत्यलोक, ब्रह्मलोक

यह धारणा ऋग्वेद् की प्रभु-भक्त ने खोई नहीं।
तुमसे बड़ा कोई नहीं।
तुम से पवन-खग उड़ रहा, रवि के किरण-कर पड़ रहे।
निशि के अँधेरे ताल में, तारक-पतंगे जल रहे।
सब में भरा उत्साह है
पर मैं बहुत घबरा रहा।
कारण कि मैंने उर-धरा शुभकर्म से धोई नहीं।
लतिका तुम्हारे प्रेम की विश्वास पर बोई नहीं।
तुमसे बड़ा कोई नहीं।

## नौ

**शिवस्त्वष्टरिहागहि, विभुः पोष उत त्मना**
**यज्ञे यज्ञे न उदव**

**ऋक् 5.5.9**

(त्वष्टः) हे सर्वदुःखहर्ता परमात्मन् (शिवः) सुखकारी (विभुः) सर्वव्यापक (पुष्टिप्रद) आप (इह) यहाँ (आगहि) आइए (उत) और (त्मना) अपने आप (यज्ञे यज्ञे) प्रत्येक यज्ञ में (नः) हमारी (उद्अव) रक्षा कीजिए।

पधारो मन मन्दिर में आज
सर्वव्यापक त्वष्टा भगवान।
आपका त्वष्टा नाम सटीक,
दुःखों का छेदन करते आप।
मरणधर्मा पा शरण अनन्य,
भूल जाता जग के त्रय ताप।
तपन में करती है जिस भाँति
मेघ की सजल छाँह कल्याण।
पुष्टिकारी 'पोषक' शिव देव
सर्वव्यापक हे विभु वरणीय
यज्ञमण्डप में आ रक्षार्थ
बताओ क्या कुछ है करणीय ?

यज्ञमय जीवन का है लक्ष्य,<br>
राष्ट्र का सर्वमुखी उत्थान।<br>
भृत्य से ले शासक पर्यन्त,<br>
त्याग-तप की हो अविरल छाप।<br>
प्रवंचित कर समाज को स्वयं,<br>
भोगता सुख जो वह है शाप<br>
इसी से जीवन में हर काल,<br>
अशिव शिव की दो प्रभु पहचान।

## दस

**समिद्धस्य प्रमहसो अग्ने वन्दे तव श्रियम्**
**वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे।**

**ऋक् 5.28.4**

(अग्ने) हे अग्नि (समिद्धस्य) समिधा आदि से प्रदीप्त (प्रमहसः) उत्कृष्ट तेजवाले (तव) तेरी (श्रियं) श्री को, शोभा को (वन्दे) वन्दन करता हूँ। तू (वृषभः) वर्षा करने वाला और (द्युम्नवान्) यशस्वी (असि) है, तू (अध्वरेषु) यज्ञों में (समूइध्यसे) समिद्ध किया जाता है।

समिधाओं से दीप्त कुण्ड में हे वैश्वानर तेरा तेज,
रचता है घी की चादर पर अँगारी गुड़हल की सेज,
उस पर कुन्दन का तकिया धर बैठी प्रिया तुम्हारी कान्त,
अरुण शिखा का आँचल ओढ़े, अरुणांगी श्री चिर अश्रान्त।
दिनकर में उसकी ही आभा, कमलों में उसका ऐश्वर्य,
रजत कलाएँ चारु चन्द्र की, रचती हैं उसका ही पर्व।
व्योमचुम्बिनी ज्वालाओं में, उसका ही होता है नृत्य,
पवन हाथ बाँधे चलता है, मेघ-वृन्द लगता है भृत्य।
तेरी श्री करुणा दयार्द्र हो नित बरसाकर रस की धार,
भर देती है दग्ध विश्व के कूप, नदी, सर, सिन्धु अपार,
तेरी दयावृष्टि से मेरे भीग गए हैं जीवन-स्रोत,
मन के ज्ञान-यज्ञ में तेरी आभा अधिक हुई प्रद्योत।
उसी जगद्धात्री श्री का मैं करता हूँ नत शिर वन्दन,
तेजपुंज हे अग्नि तुम्हारा बार-बार है अभिनन्दन।

*ग्यारह*

**त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय**
**अस्य रायस् त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः।**

**ऋक् 6.48.9**

(वसो) हे धनस्वरूप परमेश्वर (चित्रः) अद्भुत गुण, कर्म स्वभाववाला (त्व) तू (नः) हमारे लिए (ऊत्या) अपनी रक्षा से (राधांसि) ऐश्वर्यों को (चोदय) प्रेरित कर। (अस्य) इस (रायः) ऐश्वर्य का (त्व) तू (अग्ने) हे अग्निस्वरूप परमात्मन् (रथीः) रथचालक नेता (असि) है। (नः) हमारी (तुचे) सन्तान के लिए (तु) शीघ्र (गाधं) प्रतिष्ठा को (विदाः) प्राप्त करा।

हे जगदीश्वर तुम अकिंचनों के वसु हो निर्धन के धन,
भौतिक-आध्यात्मिक वैभव के तुम हो एकमात्र साधन।
दिव्य कर्म, गुण औ स्वभाव के कारण कहलाते हो चित्र,
हे राधा के प्राण विभवकर नेता रथी सहायक मित्र।
प्राणिमात्र के हित का जिससे होता हो प्रतिपल निर्वाह,
देव हमारे जीवन में है उस चिन्तन का बड़ा अभाव।
मनुजमात्र की अंश दृष्टि से जितनी भी सन्तानें दीन,
बिना तुम्हारी कृपा-कोर के भटक रही जगती में दीन।
उनको देकर भद्र विचारों-संकल्पों का अक्षय कोष,
करो नाथ सर्वस्व समर्पण-कर्ता भक्त-जनों का तोष।
तभी तुम्हें ऐश्वर्यरथी कह वेद कर रहे डिम-डिम घोष,
देकर ज्ञान-प्रकाश मिटा दो लक्ष्यहीन का भाग्य-प्रदोष।

## बारह

**अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि, किं मुहुश्चिद् वि दीधयः**
**सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्वं, स्मो वयं सन्ति नो धियः।**

ऋक् 8.21.6

(हरिवः) हे ऋक्-सामरूप हरियों वाले (त्वा अच्छा च) तेरे अभिमुख होकर (एना) इस (नमसा) नमस्कार के साथ (वदामसि) हम प्रार्थना करते हैं। मुहुः चित् फिर भी तू (किं वि दीधयः) किस सोच में पड़ा हुआ है ? हमारे (कामासः) मनोरथ (सन्ति) विद्यमान हैं, (त्वं ददिः) तू दाता विद्यमान है। (वयं स्मः) हम विद्यमान हैं (निः धियः) और हमारी बुद्धियाँ तथा कर्म (सन्ति) विद्यमान हैं। फिर भी तेरी कृपा क्यों नहीं हो रही है ?

मैं भिक्षुक तू अक्षयदाता
भर दे मेरी झोली।
ऋक् अरु साम रूप दो घोड़े,
नीति-धर्म वाले हैं।
सत्य, धैर्य, गति, स्थिरता, सर्जन
स्नेह-क्षमा पाले हैं।
तुमने होकर इन्द्र युगल,
अश्वों की पाली टोली।
हम विनीत खाली हाथों से
तेरे दर आए हैं,
किन्तु मनोरथ-संकल्पों के
भिक्षु-पात्र लाए हैं।

क्योंकि समझता नहीं विश्व
कातर लोगों की बोली।
    सोच रहे हो शायद क्या दो,
    जीर्ण देह वालों को।
    गंगाजल से कैसे कोई,
    भरे पंकनालों को।
दुराग्रही तम के माथे पर,
चढ़ती कभी न रोली।
    पूर्ण समर्पित भक्त-द्वार से,
    कभी न लौटा खाली।
    तुमने तो नभ तक की भर दी
    हीरों वाली थाली।
एक बार मुख-चन्द्र दिखा दो,
करो न आँख-मिचौली।

## *तेरह*

**प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो**
**निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः**
**उर्वन्तरिक्षमन्वेमि।**

**यजु. 1.7**

(रक्षः) राक्षस (प्रति. उष्ट) प्रतिदग्ध हुआ (अरातयः) अदानभाव (प्रति उष्टाः) प्रतिदग्ध हुए। (रक्षः) राक्षस (निः तप्त) निःशेषतया तप्त हुआ (अरातयः) अदानभाव (निः तप्ताः) निःशेषतया तप्त हुए। अब मैं (उरु अन्तरिक्षम् अनु) विस्तीर्ण आकाश की ओर (एमि) जा रहा हूँ।

अन्तरिक्ष में लगे विहरने
मेरे प्राण-विहंग।
मैं धरती पर जन्मा-पोषित-
हुआ अन्त में लीन।
आता-जाता रहा विषय-धारा का
बनकर मीन।
बुद्धि हुई जड़ और हो गया
कलुषित हृदय अपंग।
अहंकार-कार्पण्य स्वार्थ के
पंख हो गए भारी।
नहीं चाहकर भी उड़ने की
हो पाई तैयारी।

असुर अदान नहीं जल पाए,
हुए भाव बदरंग।
    अभय, दान, दम, यज्ञ, अहिंसा
        सत्य-शान्ति के डैने।
    जब से बाँधे कर्म-देह में,
        मुक्ति लोक हित मैंने।
तब से ब्रह्मरन्ध्र-सागर में
बजने लगी तरंग।
और उड़ा मैं दूर जा रहा छोड़ विषय भू-संग।

## चौदह

**वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहासद्, यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**
**तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं, स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।**

**यजु. 32.8**

(वेनः) मेधावी मनुष्य (तत्) उस ब्रह्म को (पश्यत्) देख लेता है। जो ब्रह्म (गुहा निहितं सत्) गुहा में छिपा है (यत्र) जिसमें (विश्व) विश्व (एकनीड) एक घोंसले वाला, एक आश्रय वाला (भवति) होता है। (तस्मिन्) उस ब्रह्म में (इदं सर्व) यह सब जगत् (सं एति च) समाविष्ट हो जाता है। (वि एति च) और उत्पत्ति काल में बाहर निकल आता है। (सः) वह (विभूः) व्यापक ब्रह्म (प्रजासु) प्रजाओं में (ओतः प्रोतः च) ओत और प्रोत है।

वह हृदय-गुफा में रहता है
तू देख ज्ञान की आँख खोल।
फूलों में उसकी मधुर हँसी,
किरणों में उसका विमल रूप,
तितली के पंखों में मिलती,
प्रतिपल उसकी आहट अनूप।
वह प्रेम-सुधा की सरस बूँद,
तू दे श्रद्धा का चषक खोल।
देखा करते निश्चिन्त स्वप्न,
जैसे नीडों में पंछी-दल।
सच्चिदानंद परमेश्वर का
ले उसी तरह तू दृढ़ संबल।

उसकी माधुर्य भरी झाँकी,
तेरे मानस में उठे डोल।
जैसे मकड़ी जाला रचकर,
फिर जाले को लेती समेट।
रचकर वह सृष्टि अन्त में फिर,
यह प्रकृतिजाल लेता चपेट।
मन-वाणी उसे न पा सकते,
बल-बुद्धि न सकते उसे तोल।
जब सब में है वह ओतप्रोत,
तब दुश्मन कौन, कौन प्यारा।
सब यहीं पड़ा रह जाएगा,
जब लाद चलेगा बनजारा।
वह दयासिंधु है बहुत पास,
तू देख हृदय के द्वार खोल।
उसके ले पावन चरण देख
तू एक बार हरिनाम बोल।।

*पन्द्रह*

**पञ्च नद्यः सरस्वतीम्, अपि यन्ति सस्रोतसः**
**सरस्वती तु पञ्चधा, सो देशेऽभवत् सरित्।**

**यजु. 34.11**

(सस्रोतसः) समान स्रोत वाली (पञ्च) पाँच (नद्यः) नदियाँ (सरस्वतीम्) सरस्वती को (अपियन्ति) प्राप्त होती है, उसमें जा मिलती हैं (सा उ) वह (सरस्वती सरित् तु) सरस्वती नदी तो (देशे) संगम प्रदेश में फिर (पञ्चधा अभवत्) पाँच में विभक्त हो जाती है।

नदियाँ पाँच किन्तु उनका है,
उद्गम का स्थल प्रियवर एक।
सरस्वती की प्रखर धार में,
पड़कर होती एक अनेक।
शब्द, स्पर्श, रस, गंध, रूप–
की धाराओं का मन है स्रोत।
मन-वाणी की सरस्वती में,
पड़कर होता अधिक उदोत।
इनका अनुभव वाणी ही है,
करती शब्दों में अभिव्यक्त।
तन की भूमि विश्व-भोगों में
होती है अनुरक्त-विरक्त।

परमेश्वर का बड़ा विलक्षण,
दिखता है यह नव भूगोल।
जहाँ देह के भीतर बहती,
रहती सरस्वती अनमोल।
आओ हम भी वाक्रूप—
सरि को दें ज्ञान-सिन्धु में डाल।
जिसके तट पर बीन रहे हों,
अनुभव-मुक्ता-मुक्त मराल।

## *सोलह*

**दोषो आगाद् बृहद् गाय, द्युमद्, गामन्नाथर्वण**
**स्तुहि देवं सवितारम्।**

**साम. 117**

(दोषा उ) रात्रि (आगात्) आ गई है। (गामन्) हे गायक (आथर्वण्) हे निश्चल, हे अथर्वा की सन्तान ! (द्युमत्) देदीप्यमान (बृहत्) महागान को (गाय) गा। (देव) दीप्तिमान् (सवितार) प्रेरक सूर्य सम इन्द्र प्रभु की (स्तुहि) स्तुति कर।

घिरी अँधेरी रात अथर्वा रवि को टेर रहा।
सन्नाटा बुन रहे गोष्ठ बन,
निविड़ तिमिर के बरस रहे घन,
नहीं दीखता मार्ग दृगों में काजल तैर रहा।
क्रोध-उलूक, काम-वृक जागे,
भद्र विचार-विहग डर भागे।
काल-अहेरी देह-मृगी को पल-पल घेर रहा।
बिना रश्मिमाली के आए,
कैसे कंजकली मुस्काए ?
नभ की छलनी से स्वर्णिम कण अरुण बिखेर रहा।
भूजेता राजा-सा मन बढ़,
चक्रसहस्र पँखुरियों पर चढ़,
ऊर्ध्व शिखर पर निर्विकल्प हो करता सैर रहा।

## सत्रह

**ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार, ननु तिर्यङ् निपद्यते**
**न सुप्तमस्य सुप्तेषु, अनुशुश्राव कश्चन्**

**अथर्व. 11.4.25**

प्राण (सुप्तेषु) इन्द्रियों के सो जाने पर भी (ऊर्ध्वः) उत्थित होकर (जागार) जागता रहता है, (ननु) क्या कभी वह (तिर्यक्) तिरछे (निपद्यते) लेटता है ? (सुप्तेषु) सोते हुए प्राणियों में (अस्य) इसके (सुप्त) सोने को (कश्चन) किसी ने (न) नहीं (अनुशुश्राव) परम्परा से सुना है।

जब सब प्राणी सो जाते हैं, तब भी जागा करते प्राण,
तमोमयी प्रगाढ़ निद्रा में, चलते रहते प्राणापान।
शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध के अनुभवकर्ता जब निस्पन्द,
होकर शान्त स्तब्ध रहते हैं तब भी होते प्राण न मन्द।
सो जाने पर सभी इन्द्रियों के यदि प्राण करें विश्राम,
देह-पुरी का हो जाएगा उस क्षण ही सब काम तमाम।

पाँच तत्त्व तन के धारक सुर ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशक देव,
प्राण प्रकाशक-धारक दोनों रहते हैं गतिशील सदैव,
रानी मधुमक्खी के पीछे ज्यों चलता मधुमाखी दल,
इसी तरह प्राणों के पीछे चलती हैं इन्द्रियाँ विकल।

प्राणों की बिन हुए प्रतिष्ठा, नहीं प्रतिष्ठित होती देह,
विद्युत को उर में लेकर ही बरसाता निर्मल जल मेंह।

परम्परा से सुना सभी ने सोते हैं प्राणी के प्राण,
किन्तु जागते रहते हैं ये तत्पर सावधान बलवान।
प्राणायाम करोगे तो ये प्राण सबल होंगे हे बन्धु,
तन के अवयव बिन्दु सदृश हैं, तो हैं प्राण अनूठे सिन्धु।

## *अठारह*

**शिला भूमिरश्मा पांसुः, सा भूमिः संधृताधृता**
**तस्यै हिरण्यवक्षसे, पृथिव्या अकरं नमः।**

**अथर्व. 12.1.26**

(शिला) शिला (अश्मा) पत्थर (पांसुः) धूलि ही भूमि है। (सा भूमिः) वह भूमि (संधृता) संम्यक् प्रकार धारण की जाकर (धृता) राष्ट्र के रूप में धृत हो जाती है। (तस्यै) उस (हिरण्यवक्षसे) हिरण्यवक्षा, सुवर्णगर्भा (पृथिव्यै) भूमि के लिए (नमः अकर) नमस्कार करता हूँ।

मिट्टी शिला धूल चट्टानें सिकता-कण भूखण्ड,
स्वर्णवक्ष धरती माँ का ही तेजस् रूप प्रचण्ड,
वन्दे मातरम्।
वन, पर्वत, खलिहान, बगीचे
खनिज स्रोत, सरिताएँ।
सागर, झील, कूप, बावड़ियाँ
हों रस भरी दिशाएँ।
नभ से लेकर अतल सुतल तक हो साम्राज्य अखण्ड।
वन्दे मातरम्।
सस्य श्यामला सुजला सुफला,
धरती हो रसमाती।

शीतल मन्द सुगन्ध समीरण
तिरे सदा इठलाती।
पोर-पोर रस भरे खेत में उगें इक्षु के दण्ड।
वन्दे मातरम्।
स्वस्थ सुडौल रमणियाँ चहकें,
अँखियाँ हों रतनारी।
युवकों की अहिदण्ड भुजाएँ,
करें राष्ट्र रखवारी।
बूढ़े माता और पिता के कर का छिनें न दण्ड।
वन्दे मातरम्।
इसका रजकण तीर्थ निछावर,
इस पर नन्दन कानन।
इसको छू न कभी पायेंगे,
अरि के हाथ अपावन।
खड्ग हस्त हम स्वयं मृत्यु का देंगे तोड़ घमण्ड।
वन्दे मातरम्।

### *उन्नीस*

**स्वस्ति पंथामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव**
**पुनर्ददताघ्नता जानता संगमे महि।**

**ऋक् 5.51.15**

हम कल्याण मार्ग के राही,
करें सदा कल्याण।

जैसे सूर्य-चन्द्रमा चलते,
स्फूर्ति, तेज, अमृत-कण झरते।
षड्ऋतुओं के विविध दृश्य रच,
करते सुखद प्रयाण।

दाता और अहिंसक ज्ञानी,
द्वन्द्व रहित हों बोलें वाणी।
भद्र पुरुष मिल बैठ विश्वहित
सोचें एक समान।

अनुशासन में बँधी प्रकृति है,
जड़ता नहीं अटूट प्रगति है,
नियमबद्ध गतिशील व्यक्ति ही,
बनता सदा महान्।

गलते मेघ उमड़ती नदियाँ,
सुरभि मधुप को देती कलियाँ।
मुक्त हस्त कर रहे वायु-जल
जैसे जीवन दान।

## *बीस*

**मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्**
**उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।**

**ऋक् 10.159.3**

मेरे पुत्र शत्रुहन्ता हैं, दुहिता शौर्य-कीर्ति आगार,
मैं व्याख्यान-कला पारंगत, मेरी भृकुटि कराल कटार।
मैं संग्राम विजयिनी होकर करती समर भूमि शृँगार,
मेरे पति का स्वयं विजयश्री बनती नीलकंठ का हार।

उगता हुआ प्रभाकर मेरे भाग्य-विन्दु की कुंकुम-ज्वाल,
काट लिया मैंने कराल करवाल उठा दुश्मन का भाल।
मेरा कुल परिवार धन्य है मातृभूमि के आता काम,
आत्म त्याग से इन्द्र सदृश मैं पा जाती हूँ कीर्ति ललाम।
मुझसे बढ़ सौभाग्यशालिनी होगी कौन विश्व में अन्य,
शची सदृश मैं देवभूमि की वनिता आज हुई हूँ धन्य।

## इक्कीस

**यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह**
**ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ब्रह्मणे स्वाहा।**

अथर्व. 19.43.8

(ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) के साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं, (ब्रह्मा) चतुर्वेदवित् विद्वान् (मा) मुझे (तत्र) वहाँ (नयतु) ले जाएँ। (ब्रह्मा) चतुर्वेदवित् विद्वान् (मे) मुझ में (ब्रह्म) ब्रह्म को (दधातु) स्थित करें। (ब्रह्मणे) ब्रह्म के लिए (स्वाहा) मेरा समर्पण है।

पधारे मन-मन्दिर में देव,
खड़ा हूँ दोनों हाथ पसार।
ब्रह्मविद् जाते हैं जिस लोक,
पार कर हर्ष, द्वन्द्व, दुःख, शोक।
तपस्या, दीक्षा का पाथेय—
साथ ले पाते लक्ष्य अशोक।
उसी ज्योतिर्मय का संकल्प,
मुझे ले आया है इस द्वार।
व्रती हूँ तुम से जोड़ा ध्यान,
दीखते एक तुम्हीं सर्वत्र।
जला अन्तस् मे दीप अखण्ड,
ज्योति के झरने लगे प्रपत्र।

यज्ञ की हवि हो उठी समिद्ध,
सामधेनी के बजे सितार।
भोग के दरक उठे पाषाण,
हुए इच्छा के दर्पण टूक।
शीत-आतप, अनुराग-विराग,
सहन करता हूँ होकर मूक।
मिले जब तपोनिष्ठ आचार्य,
मनोरथ हुए तभी साकार।
हृदय के ज्ञान कुण्ड में आज,
किया ब्रह्मानल का सन्धान।
कर्मफल अर्पित कर निश्चिन्त,
हुए परितृप्त बुद्धि, मन प्राण।
शान्ति के लगे घुमड़ने मेघ,
भक्ति की लगी बरसने धार।

## बाईस

**सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते, सरस्वतीमध्वरे तायमाने**
**सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते, सरस्वती दाशुषे वार्यंदात्।**

अथर्व. **18.1.41**

(देवयन्तः) देवत्व के इच्छुक लोग (सरस्वतीं) सरस्वती को (हवन्ते) पुकारते हैं। (अध्वरे) यज्ञ के (तायमाने) फैलाये जाने पर (सरस्वतीं) सरस्वती को (हवन्ते) पुकारते हैं। (सुकृतः) सुकर्म करने वाले (सरस्वतीं) सरस्वती को (हवन्ते) पुकारते हैं। (सरस्वतीं) सरस्वती (दाशुषे) दाता के लिए (वार्यं) वरणीय ऐश्वर्य (दात्) देती है।

आत्मशिखर से उतर ज्ञान की पावन धार बही,
सरस्वती, गो, इड़ा, वाक् ऋषियों ने कहा, मही।
साम-स्वरों से वे पुकारते इसे यज्ञ-वेदी पर,
फैलाते हैं जो सुकर्म कर्ता उपासना-अध्वर,
जिनके मन में देवसम्पदा की कामना रही।
उसी दिव्य धारा में निर्मल होता है अन्तस्तल,
बिना पुण्य कर्मों के झरती नहीं धार यह झरझर
ज्ञान सलिल में बिना नहाए मिलती शान्ति नहीं।।
होता के उदार हाथों में भर ऐश्वर्य अपरिमित,
दुर्लभ योग सिद्धियों से कर देती पुलकित हर्षित,
किन्तु न होती तुष्टि मचा यदि हाहाकार कहीं।
कुछ लोगों की प्रगति राष्ट्र-सुख का आधार नहीं।

## तेईस

**एतास्ते अग्ने समिधः, त्वमिद्धः समिद्, भव**
**आयुरस्मासु धेहि, अमृतत्वमाचार्याय।**

**अथर्व. 19.64.4**

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि (एताः) ये (ते) तेरे लिए (समिधः) समिधाएँ हैं। इनसे (त्वं) तू (इत्) निश्चय ही (सम् इद्धः) संदीप्त (भव) हो (अस्मासु) हम ब्रह्मचारियों में (आयुः) जीवन और (आचार्याय) आचार्य के लिए (अमृतत्वम्) अमरतत्व (धेहि) प्रदान कर।

समित्पाणि उपनीत शिष्य मैं, आया हूँ आचार्य प्रवर।
बिना स्नेह-उपदेश आप के, कैसे होंगे अधर मुखर ?
मैं अबोध अज्ञानी बालक, नहीं जानता क्या है लक्ष्य ?
जीवन की यथार्थ उन्नति का पन्थ अभी तक बना अलक्ष्य।
बिना जली सूखी समिधा-सा, मैं भी था सचमुच निस्तेज,
इसीलिए विद्यामन्दिर में, दिया वृद्ध पुरुषों ने भेज।।
जलकर जैसे अग्निकुण्ड में, होती समिधा अधिक समिद्ध।
वैसे ही यह मन की समिधा, होगी ज्ञान-शिखा से ऋद्ध।
कर्मठता, संयम, साहस, तप, पुण्य चरित्र शौर्य की ज्वाल।
रँग दे धूमिल जीवन का पट, संकल्पों का छिड़क गुलाल।।
उन्नत जीवन जीने की हैं, जितनी कला करा दो बोध।
ताकि आपके शिक्षण-यश का, हो न कहीं भी देव निरोध।

मेरे और आपके रक्षक, अग्निदेव हैं प्रभु के रूप।
कालातीत कीर्ति का शुभवर, दे सकते हैं वही अनूप।
अग्निहोत्र की इच्छा लेकर, आया हूँ मैं ज्ञान निमित्त।
हे सद्गुण कर्मों के प्रेरक, दो अक्षय विद्या का वित्त।।

## *चौवीस*

**आ देवानामपि पन्थामगन्म, यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम्**
**अग्निर्विद्वान्त्स यजात् स इद्धोता, सोऽध्वरान्त्स ऋतून कल्पयाति**

**अथर्व. 19.59.3**

(अपि) क्या (देवाना) देवों के (पन्था) मार्ग पर (आ अगन्म) हम चलें। हाँ (यत्) यदि (तत् अनुप्रवोढुम्) उस पर स्वयं को चलने में (शक्नवाम) समर्थ हों। (अग्निः) आत्मा (विद्वान्) विद्वान् है, (सः) वह (यजात्) यज्ञ करे, (सः) वह (इत्) सचमुच (होता) होम निष्पादक है। (सः) वही (अध्वरान्) यज्ञों को और (सः) वही (ऋतून्) ऋतुओं को (कल्पयाति) रचाए।

रे मन देवों के पथ पर चल।

परहित करना निज कर्म सकल,
है यज्ञ सिद्ध शुभ मार्ग अटल,
दृढ़ संकल्पों का लेकर नव बल
तू इस पर बढ़ता जा प्रतिपल।।

चल रहे नदी-नद नित निर्झर,
उस दाता को ही लक्षित कर,
उसके कठोर संकेतों पर
चलते रवि, शशि, ऋतु, अनिल, अनल।।

इस पथ पर चलना बड़ा कठिन,
तलवार धार या विषम अगिन,
पर निर्भय हो चल पड़ता वह
मिलता जिसको उसका सम्बल।।

ब्रह्माण्ड यज्ञ का निष्पादक,
है आत्मदेव सर्जक पालक,
उसके हाथों में जीवन की,
पतवार सौंप दे तू अविचल।।

*पच्चीस*

**यथा वातश्च्यावयति, भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्**
**एवा मत् सर्वं दुर्भूतं, ब्रह्मनुत्तमपायति।**

अथर्व. **10.1.13**

(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) धूल को (च्यावयति) च्युत कर देता है, उड़ा ले जाता है (अन्तरिक्षत् च) और आकाश से (अभ्रम्) बादल को (च्यावयति) च्युत कर देता है, झकझोरकर गिरा देता है (एव) उसी प्रकार (मत्) मेरे अन्दर से (सर्वं) सब (दुर्भूत) दुर्भाव या पाप (ब्रह्मनुत्तम्) महान् परमेश्वर और वेद से उड़ाया जाकर (अपायति) दूर हो जाए।

चलता प्रबल झंझावात।
गिर रहे हैं टूट कर तरु, शिखर, डाली, पात।।

उड़ रहे हैं धूल के कण,
सनसनाते हैं सघन वन,
उड़ रहे तृण, नीड़, पंछी भग्न पर, उत्पात।।

लो घिरी काली घटाएँ,
भर गईं जल से दिशाएँ,
हो गए भू, गिरि, गगन, घाटी सभी जल-स्नात।।

बहुरूपी पवन ने चल,
विषय के रजकण दिए दल,
खिल उठे उर ताल में अनुभूति के जलजात।।

भक्ति के बादल बरस कर,
भर गए मन-कूप-निर्झर,
मिल गई सद्भावना की भक्त को सौगात।।

## *छब्बीस*

**इदं सवितर् विजानीहि, षड् यमा एक एकजः**
**तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते, य एषामेक एकजः।**

**अथर्व. 10.8.5**

(सवितः) हे आत्मन् (इद) इसको (विजानीहि) जानो (षड्) छह (यमाः) सहजात भाई (हैं) (एकः) एक (एकजः) अकेला उत्पन्न है। (यः) जो (एषा) इनमें (एकः) एक (एकजः) अकेला उत्पन्न है। (तस्मिन् ह) उसमें ही (सहजात भाई) (आपित्व) सम्बन्ध को (इच्छन्ते) चाहते हैं।

एक पुत्र के साथ हुई छह सन्तानें उत्पन्न,
उसी एक के साथ छहों के हुए बन्ध सम्पन्न।
हे साधक उस एक पुरुष को तू भी अपना मान,
वह सबका आराध्य उसी की हम सब हैं सन्तान।
संवत्सर वह पुरुष छहों ऋतुएँ उसकी सहजात,
एकाकी वह आत्म, इन्द्रियाँ, मन उसके प्रिय तात।
पंचभूत जीवात्मा मिलकर छह सन्तान कहातीं,
परमपिता परमेश्वर में हैं मिलकर छहों समातीं।
वही केन्द्र है और सभी हैं उस पर आश्रित भाई !
उसी अन्ततः शेष पुरुष की महिमा श्रुति ने गाई।
अक्षर पुरुष सभी क्षर होने वालों के ऊपर है।
अपराजित अक्षत विराट वह अमर शान्ति-आकर है।

## *सत्ताईस*

**उपच्छायामिव घृणेः अगन्म शर्म ते वयम् अग्ने हिरण्यसन्दृशः।**

**ऋक् 6.16.38**

(अग्ने) हे अग्रणी परमात्मन् (छायाम् इव) जैसे कोई छाया में पहुँचता है। वैसे ही (ते) तुझ (हिरण्यसन्दृशः) हिरण्य सदृश और (घृणेः) ज्योतिर्मय की (शर्म) शरण में (वय) हम (उप अगन्म) पहुँच गए हैं।

अब तुम्हारी हूँ शरण में।
ज्यों थका पंथी विटप की छाँह में निश्चिन्त सोता,
या मरुस्थल के अधर को हो कहीं बादल भिगोता,
मैं जला भवज्वाल से आया सुधाशीतल चरण में।।
तप्त कंचन सा तुम्हारा रूप कण-कण में बसा है,
बिन्दु करुणा का तुम्हारी पा हुई रसमय रसा है,
तुम सुरभि बन कर समाए रंगरंजित मृदु सुमन में।।
प्राप्त कर आश्रय तुम्हारा मुक्त होते भक्त जन हैं,
साधते अष्टांग साधन और कुछ करते भजन हैं,
किन्तु जप-तपहीन मैं असहाय हूँ तीनों भुवन में।।

## *अट्ठाईस*

**उभाम्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च**
**मां पुनीहि विश्वतः।**

**यजु. 19.43**

(देव) हे प्रकाशक (सवितः) सूर्य एवं प्रेरक परमात्मन् ! (पवित्रेण) अपने पवित्र रश्मिपुंज से (सवेन) और वर्षाजल से, पोषक रस से (उभाम्या) इन दोनों से (मा) मुझे (विश्वतः) चारों ओर से (पुनीहि) पवित्र कर।

सविता मुझे पवित्र करे।
उसके पावन रश्मि पुंज के सम्मुख नहीं कलुष ठहरे।।

तम से लिपी दिशाएँ जैसे
छू कर उन्हें निखर उठती हैं।
निशा निमीलित कमल पाँखुरी,
खिलकर सहज सिहर उठती है।
वैसे ही मरीचिमाली वह मेरा अन्तस् तिमिर हरे।।

सावन में मेघों की आँखें,
ज्यों भू का आँचल भर देतीं।
अथवा पलकों में चातक की,
बो देतीं मोती की खेती।
वैसे ही मेरे मानस में अपना स्नेहिल नीर भरे।।

अपनी कृपा-दृष्टि के 'सव'[1] से,
कर दो मेरे मन को पावन।
किरण रूप धर या मधुजल वन,
मिलो मुझे मेरे मन भावन।
दया तुम्हारी सकल विश्व में बनकर जीवन सुधा झरे।।

1. सव = वर्षा का जल

## *उनतीस*

**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्**
**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्**
**ओ३म् खं ब्रह्म।**

**यजु. 40.17**

(हिरण्मयेन) सुनहरे (पात्रेण) पात्र से (सत्यस्य) मुझ सत्य स्वरूप का (मुखं) मुख (अपिहित) ढका हुआ है। (यः) जो (असौ) यह (आदित्ये) आदित्य में (पुरुषः) पुरुष है (सः) वह (असौ) यह (अहम्) मैं हूँ। (ओ३म्) ओ३म् (खं) आकाशवत् (ब्रह्म) ब्रह्म हूँ।

स्वर्णपात्र से ढका हुआ है, परम सत्य का निर्मल मुख,
किन्तु जगत् देखा करता है, उसकी चमक-दमक में सुख।

सच्चाई के अन्वेषक को, दूर आवरण करना है,
अनुपम ज्योति अनुद्घाटित है, उसे निरावृत करना है।

तभी रश्मि की कनक शिला पर, तेजपिंड को गति देकर,
ग्रह नक्षत्रों का वह स्वामी, उतरेगा नव स्मिति लेकर।

सूक्ष्म ज्ञान के विमल दृगों से, देख सकोगे तब उसको
यह आदित्य पुरुष मुस्काकर, देता रहा रूप जिसको।

उसका सुन्दर नाम ओ३म है, व्यापक है वह गगन समान
वह विराट् तैजस ईश्वर है, प्राज्ञ ब्रह्म वह देव महान्।

जो वह है, मैं भी वह ही हूँ, प्राण ऊष्णता का चिर स्रोत
दुनिया की प्रत्येक वस्तु में, रहता हूँ मैं ओतप्रोत।

मेरी झाँकी देख सके तो, ले दिनकर मण्डल में देख,
करता है उद्घोष अन्त में, दीर्घतमा[1] का विमल विवेक।

1. दीर्घतमा = ऋषि का नाम

## *तीस*

**जयेम कारे पुरुहूत कारिणो, अभितिष्ठेम दूढ्यः**
**नृभिर्वृत्रं हन्याम शूशुयाम च, अवेरिन्द्र प्रणोधियः।**

**ऋक् 8.21.12**

(पुरुहूत इन्द्र) हे बहुस्तुत ईश्वर (कारिणः) कर्मपरायण हम (कारे) कर्मक्षेत्र में (जयेम) विजयी हों; (दूढ्यः) दुर्बुद्धियों और दुष्कर्मियों को (अभितिष्ठेम) पराजित करें। (नृभिः) पौरुषवानों और पौरुषों के द्वारा (वृत्रं) वृत्र को (हन्याम) नष्ट करें (च) और (शूशुयाम) बढ़ें। (नः) हमारे (धियः) ज्ञानों तथा कर्मों को (प्रअवेः) प्रकृष्ट रूप से रक्षित कर।

कर्म-परायण हम विजयी हों,
दो ऐसा वरदान।
असुर विरोधी देव गणों ने
छेड़ा है अभियान।।

नहीं चाहते हम सहायता,
तुमसे निष्क्रिय होकर,
जीते हैं कापुरुष भाग्य पर,
उद्यम-पौरुष खोकर।

अमृतपुत्र हम कर्मनिष्ठ,
पुरखों की हैं सन्तान।।

असुर नरेश वृत्र पड़ता है,
देवगणों को भारी।

उत्पीड़न, अन्याय, दमन की,
उसने की तैयारी।
व्यक्ति, समाज, राष्ट्र का करता
वह प्रतिपल अपमान।।
सत्य, अहिंसा, भद्रभाव का,
लेकर वज्र अचूक।
सेवा-व्रती इन्द्र इसका सिर
कर देगा दो टूक।
तब होगा इस पुण्य भूमि का
चिर वांछित कल्याण।।

## *इकत्तीस*

**यो नो द्वेषत्पृथिवी यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन**
**तं नो भूमेरन्धय पूर्वकृत्वरि।**

अथर्व. **12.14**

(पृथिवि) हे हमारी मातृभूमि (यः) जो (नः) हम से (द्वेषत्) द्वेष करे (यः) जो हम पर (पृतन्यात्) सेना से आक्रमण करे। (यः) जो (मनसा) मन से और (यः) जो (वधेन) शस्त्र से (अभिदासात्) हमको दास बनाना चाहे (त) उसको (पूर्वकृत्वरि) हमारे मनोरथों को पूर्ण करने वाली (भूमे) हे हमारी मातृभूमि (रन्धय) तू राँध दे, नष्ट कर दे।

हम स्वतन्त्र नागरिक देश के,
होंगे कभी न दास।
यज्ञ-यूप से सजी हमारी,
मातृभूमि है प्यारी।
झरने, सरिता, कूप, सिन्धु
पर्वत, बन, उपवन-क्यारी।
खनिज धातुओं के बहु आकर,
करते यहाँ प्रकाश।
हम विपक्ष-सेना के मस्तक,
लेते शूल उछाल,
राष्ट्रभूमि के अपहर्ता की,
छीन कुटिल करवाल,

शस्त्रों के बल पर न हमारा,
दब सकता उल्लास।
होती है यदि जाति पराजित,
तन, मन बन्धक होते।
बुझ जाते परतन्त्र देश की,
अग्नि-शिरा के सोते।।
उसकी संस्कृति और सभ्यता
का होता है ह्रास।।
छिन जाती साहित्य, धर्म,
दर्शन चिन्तन की भाषा।
मिट जाती है वक्ष तानकर,
चल सकने की आशा।।
क्योंकि विजेता राष्ट्र भ्रष्ट
कर देता है इतिहास।
तू अभेद्य चट्टान और,
तेरी मिट्टी फौलादी,
बड़े बड़े तूफानों ने ली,
जीवित यहाँ समाधी।
तूने पी बिजलियाँ सिन्धु–
की सदा बुझाई प्यास।।

*बत्तीस*

**जनं विभ्रती वहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्**
**सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।**

अथर्व. 12.1.45

(बहुधा) अनेक प्रकार से (विवाचसम्) विविध प्रकार की वाणियों को बोलने वाले (नानाधर्माणं) अनेक प्रकार के धर्मों का पालन करने वाले (जनम्) लोगों को (यथौकसम्) समान घर में रहने वालों की तरह (विभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (ध्रुवा) स्थिर खड़ी हुई (अनपस्फुरन्ती) विना हिले-डुले (धेनुः) दुधारू गौ (इव) की तरह (मे) मेरे लिए (द्रविणस्य) धन की (सहस्र) हजारों (धाराः) धाराओं को (दुहाम्) दुहे—प्रदान करे।

स्थिर खड़ी दुधारू धेनु-सदृश,
यह मातृभूमि यह पुण्यभूमि,
इसको मेरा शतवार नमन।।

इसके ऊपर नद, कूप, शिखर,
रसभरे अन्न, फल, खनिज प्रकर,
हरिताभ दुकूलों में पय भर,
ममता से प्राणी रही पाल,
माता समान हर्षित होकर,
इसकी गोदी नन्दन कानन।।

इस पर जितने रहते प्राणी,
जैसे जैसे बदले पानी,
वैसी वैसी बोलें वाणी,
पथ भिन्न-भिन्न पर एक लक्ष्य,
जैसे घर में बैठें सदस्य,
करते निज धर्मों का पालन।।

भाषा या रंग, धर्म लेकर,
लड़ते न यहाँ नारी या नर,
सब प्रेम सहित रहते मिलकर,
अपने निवासियों को धन दे,
उन्नति के हर संभव क्षण दे,
यह करती सब का अनुशासन।।

गुरु, शिष्य, सुता, सुत, वधू, भ्रात,
कर्त्तव्यपरायण तात मात,
है यहाँ न कोई जात-पाँत,
इसकी चन्दन शीतल छाया,
पा कर्मनिष्ठ उत्साही जन,
करते समाज का हित चिन्तन।।

## *तैंतीस*

**अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु।**

**अथर्व. 12.1.21**

(पृथिवी) हमारी मातृभूमि (अग्निवासाः) अग्नि का वस्त्र ओढ़े हुए है और इसीलिए (असितज्ञ) अपने निवासियों को बन्धन रहित बतलाने और दिखाने वाली है, वह मातृभूमि (मा) मुझको (त्विषीमन्तम्) तेजस्वी और (संशितम्) तीक्ष्ण (कृणोतु) कर देवे।

मातृभूमि तेरे नभ-तट पर उमड़ रहा है अग्नि-समुद्र,
तेरा तेज दुग्ध घृत बन कर करता है चेतना प्रबुद्ध।
अग्नितार से बुनी हुई है तेरे आँचल की जाली,
पके फलों, फूलों से भरती तेरी अग्निविटप डाली।

तू स्वर्णिम परिधान पहनकर करती है सतीत्व रक्षा।
करती वैभवदान राष्ट्र नायक को तू हिरण्यवक्षा।
बन्धनमुक्त सुता सुत तेरे रहते भरे अनन्त उमंग,
हर स्वाधीन नागरिक तेरा ज्यों सागर की तुंग तरंग।

माँ मैं तेरा हूँ कनिष्ठ सुत पर कटार जैसा हूँ तेज,
अंगारों का चीर पहनकर बैठा हूँ लपटों की सेज।
अग्निरहित, उत्साहहीन जिनका ठंडा पड़ जाता रक्त,
उनका राष्ट्र महत्ता खोकर हो जाता है दीन अशक्त,

मेरे अन्न, वनस्पति, मिट्टी, जल, पशु, पुरुष खेत खलिहान,
धधक रहे सबकी छाती में अक्षय अग्नि-शिखा के बाण।
है किसकी सामर्थ्य कर सके जो पददलित राष्ट्र का तेज,
खौल रहा है रक्त हमारा, हम रखते हैं अग्नि सहेज।।

## चौंतीस

**परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व, आ मा सुचरिते भज**
**उदायुषा स्वायुषा, उदस्थाममृताँ अनु।**

**यजु. 4.28**

(अग्ने) हे परमात्मन् ! (मा) मुझे (दुश्चरितात्) दुश्चरित्र से (परिबाधस्व) दूर कर, (मा) मुझे (सुचरिते) सुचरित्र में (आ भज) स्थापित कर। मैं (आयुषा) आयु से (उत्) उन्नत होऊँ, (सुआयुषा) उत्तम आयु से उन्नत होऊँ। (अमृतान् अनु) अमर पद प्राप्त सदेह-मुक्त एवं विदेहमुक्त विद्वानों का अनुसरण करते हुए (उत् अस्थाम्) मोक्ष के लिए उत्थित होऊँ।

सच्चरित्रता राष्ट्रप्रगति की होती सदा कसौटी।।

नहीं राष्ट्र मिट्टी, पानी या पाषाणों का ढेर,
नहीं राष्ट्र कहलाता सोने चाँदी का अम्बार।
नहीं राष्ट्र भूखण्ड या कि कोई भूगोल खगोल,
नहीं राष्ट्र उद्योगों का, कल पुर्जों का व्यापार।
राष्ट्र व्यक्ति आचार, नहीं घर, कपड़ा, पानी-रोटी।।

सच्चारित्र्य विकास मनुज की आयु बढ़ाने वाला,
क्षमा, सत्य, सन्तोष, दान परिमाण बढ़ाने वाला।
सुरा, सुन्दरी, द्यूत, दम्भ, हिंसा असत्य दोषों का,
बढ़ता हुआ प्रभाव और सन्ताप घटाने वाला।।
कर सकती आमूल चूल परिवर्तन एक लँगोटी।।

सुख, सम्पदा, आयु, सुन्दरता अन्तिम लक्ष्य नहीं है,
मोक्ष-प्राप्ति की प्रबल कामना मेरा ध्येय रही है।
हे तेजोमय अग्नि देवता मैं विदेह का वंशज,
अमर जनों की राह दिखाओ मेरा प्राप्य वही है।

तुम तक नहीं पहुँच सकता वह जिसकी चाहत खोटी।।

## *पैंतीस*

**उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते, देवयन्तस्त्वेमहे**
**उप प्रयन्तु मरुतः सुदानवः, इन्द्र प्राशूर्भवा सचा।**

**यजु. 34.56**

(ब्रह्मणस्पते) हे वेद, ब्रह्माण्ड एवं सकल ऐश्वर्य के स्वामी परमात्मन् ! (उत्तिष्ठ) उठ। (देवयन्तः) देवत्व की कामना वाले हम (त्वा) तुझसे (ईमहे) याचना कर रहे हैं। (इन्द्र) हे जीवात्मन् (सुदानवः) उत्कृष्ट लाभ देने वाले (मरुतः) प्राण गण (उपप्रयन्तु) समीप पहुँचें, (सचा) उनके साथ (तू) (प्राशूः) देवत्व-प्राप्ति में अतिशय आशुगामी (भव) हो।

करो हमें देवत्व प्रदान।
हममें जगे मनुजता ऐसी करें विश्व कल्याण।।

भोग भोगते नहीं थके हम,
मन के अश्व न रोक सके हम,
एक बार क्या गिरे शिखर से फिर न चढ़े सोपान।।

विश्व नियन्ता विभव रूप तुम,
जन्म-मरण की छाँह-धूप हम,
आत्मबोध से रहित देखते नित्य उदय-अवसान।।

प्राणरूप मरुतों की सेना,
इन्द्र जीव अपने सँग लेना,
प्रभु की दिव्य प्रेरणा से कर आत्मलक्ष्य सन्धान।।

तेरी दया-दृष्टि की भिक्षा,
पाने की है हमें प्रतीक्षा,
त्वरित बढ़ें हम प्रेम-मार्ग पर दो ऐसा वरदान।।

*छत्तीस*

**अत्रिमनुस्वराज्यम्, अग्निमुक्थानि वावृधुः**
**विश्वाअधिश्रियो दधे।**

**ऋक् 2.8.5**

(स्वराज्यम् अनु) स्वराज्य के पश्चात् (अत्रिम् अग्निम्) त्रिविध सन्तापों एवं त्रिविध दोष रहित आत्मा को (उक्थानि) स्तुतिगीत (वावृधुः) बढ़ाते हैं। वह आत्मा (विश्वा) समस्त (श्रियः) शोभाओं को (अधिदधे) धारण कर लेता है।

आत्मा के स्वराज्य में विचरण,
करने वाला अत्रि बनूँ।।
    दैविक, भौतिक, आधि, मानसिक,
    तीन तरह के दुःख होते।
    मिलते नहीं पदार्थ अभीप्सित,
    या अशक्त होकर रोते।।
उत्पातों से त्रस्त व्यक्ति की,
पीड़ाओं को नहीं गिनूँ।।
    दैहिक, मानस और वचनगत,
    दोष तीन कहलाते हैं।
    इन तीनों से उत्पीड़ित हो,
    मनुज नहीं सुख पाते हैं।।

मृण्मय तन के मन-मण्डप पर,
सुखकर ज्ञान-वितान तनूँ।।
जैसे कोई राष्ट्र समुन्नत,
होता है पाकर सम्राट्।
उसके नियम नियन्त्रण से
बनता समाज सम्पन्न विराट्।
वैसे ही इस आत्मनृपति
की शोभा का स्तुतिगीत सुनूँ,
द्वन्द्व रहित होकर सुख पाऊँ,
धरती का शृँगार बनूँ।।

## *सैंतीस*

**नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते, दीर्घायुत्वाय शतशारदाय**
**हरिते त्रीणि रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि तपसा विष्ठितानि।**

**अथर्व. 5.28.1**

यज्ञोपवीत का धारणकर्ता (शतशारदाय) सौ वर्षों वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयुष्य के लिए (नवभिः) नौ तारों से (नव प्राणान्) नौ प्राणों को (संमिमींते) संस्कृत करता है। यज्ञोपवीत के (त्रीणि) तीन तार (हरिते) स्वर्ण सूत्र में (त्रीणि) तीन (रजते) रजत सूत्र में और (त्रीणि) तीन (अयसि) लोहे के सूत्र में (तपसा) तपपूर्वक (विष्ठितानि) आवेष्टित हैं।

यज्ञोपवीत के तीन तार।।
तिगुने होकर नव तारों में, बनते नव प्राणों के प्रमाण,
मन, बुद्धि, अहं, चित, त्वक्, रसना, नासिका सहित दृग और कान।
करता रहता है जो इनको संस्कृत होता वह निर्विकार।।
सत्कर्म, भक्ति, विज्ञान-ज्ञान, स्वाध्याय, यज्ञ औ पुण्य दान,
ये तीन भाव ही तीन तार, कहते जिनको चिन्तक महान।
इनको धारण करने पर ही, होता है जीवन में सुधार।।
चाँदी का, सोने-लोहे का, उपलक्षण है यज्ञोपवीत,
शुचिता, तेजस्, दृढ़ता के गुण कर देते धारक को अभीत,
शतशरद सबल, दृढ़, शान्त बनूँ, ले विजय चरण मेरे पखार।।

### *अड़तीस*

**वि ते मुंचामि रशनां, वि योक्त्रं वि नियोजनम्**
**इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने।**

**अथर्व. 7.78.1**

(अग्ने) हे आत्मन् (मैं परमात्मा या तेरा आचार्य) (ते) तेरी (रशनां) अविद्या, अस्मिता आदि पंच क्लेश जन्य रस्सी को (विमुंचामि) खोल देता हूँ। (योक्त्रं) जन्म-मरण रूप बन्धन को (वि) खोल देता हूँ। (नियोजनम्) कर्मपाश को (वि) खोल देता हूँ। (त्वं) तू (अजस्र) अक्षत होता हुआ (इह एव) इस मुक्तावस्था में अपने शुद्ध रूप में ही (एधि) रह।

हे मेरे आचार्य मुझे अब बन्धनमुक्त करो।।

मैं अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख कहता,
मैं अनात्म को आत्म समझता, क्लेश पंचविध सहता,
राग, द्वेष, अस्मिता, अविद्या, अभिनिवेश का बन्धन,
मेरी बुद्धि-चेतना को हर बाँध रहा है क्षण-क्षण।

हे करुणाकर मेरी निर्मम पीड़ा आज हरो।।

ब्रह्मानन्द-स्वरूप मोक्ष पाने को मैं जन्मा हूँ,
कर्म, फलेच्छा से सम्पादित कर अटका भटका हूँ,

पुनः फलों का भोग मुझे ले जाएगा भव-तट तक,
कर्म कलश ले जाना होगा भोगों के पनघट तक।

कर्मतन्तु को काट ज्ञान का अमृत मेघ झरो।।

शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर करूँ मुक्ति-सुख का मैं अनुभव,
कर निष्काम कर्म भोगों से हो कृत कर्मों का क्षय।
कर्मपाश से मुक्त विचारक होता है प्रभु में लय,
पाकर अशरण शरण तुम्हारी मिट जाता भव का भय,

मेरे तप के रिक्त पात्र में प्रभु आनन्द भरो।।

## *उनतालीस*

**भूरि नाम वन्दमानो दधाति, पिता वसो यदि तज्जोषयासे**
**कुविद् देवस्य सहसा चकानः, सुम्नमग्निर् वनते वावृधानः।**

**ऋक् 5.3.10**

(वन्दमानः) वन्दना करने वाला जीवात्मा (भूरि) बहुत (नाम) नाम स्मरण व नमन को (दधाति) हृदय में धारण करता है। (वसो) हे परमेश्वर (पिता) पिता तू यदि (तत्) उस नामस्मरण व नमन को (जोंषायसे) प्रेमपूर्वक स्वीकार करता है तो (चकानः) कामनायुक्त होता हुआ (अग्निः) वह जीवात्मा (देवस्य) तुझ देव के (सहसा) वल से (कुवित्) बहुत अधिक (वृधानः) बढ़ता हुआ (सुम्न) आनन्द को (वनते) पा लेता है।

वन्दना होती है तब पूर्ण,
उच्चरित जब होता हरिनाम।

प्रणत मन करने लगे पुकार,
दृगों से उमड़ बहे जलधार,
अर्चना होती है तब पूर्ण,
कर्म जब होते हों निष्काम।

अग्नि प्रभु से मिलकर सम्बुद्ध,
आत्मवैश्वानर हुआ प्रबुद्ध,
साधना होती है तब पूर्ण,
जले जब ज्ञान-शिखा अविराम।

बरसकर जैसे रिमझिम मेघ,
धरा का करते हैं अभिषेक,
भावना होती है तब पूर्ण,
प्रेम से भीगे जब उरधाम।

देव बल पाकर भक्त समाज,
प्राप्त करता सुख का साम्राज्य,
कल्पना होती है तब पूर्ण,
सृजन को जब मिलता परिणाम।।

## चालीस

**इमा रुद्राय तव से कपर्दिने, क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः**
**यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्।**

**यजु. 16.48**

(महे) महान् (तवसे) बलवान् (कपर्दिने) जटाधारी (क्षयद्वीराय) वीरों के आश्रय रूप (रुद्राय) रुद्र परमेश्वर के लिए (इमाः) ये (मतीः) प्रार्थनाएँ हम (प्रभरामहे) निवेदित करते हैं। (यथा) जिससे हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) दोपाए तथा चौपाए प्राणियों का (शं असत्) कल्याण हो और (अस्मिन् ग्रामे) हमारे इस गाँव में (विश्व) प्रत्येक, हर कोई (पुष्ट) हृष्टपुष्ट, शक्तिशाली और (अनातुरम्) रोगरहित हो।

हे महान्, बलवान् जटाधारी वीरों के आश्रय रूप।
हे हरिकेश[1] रुद्र परमेश्वर कृपासिंधु हे देव अनूप।
सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तुम्हारे नयन तीन जग के द्रष्टा,
सोम, कपाल, सर्प आभूषण, संहर्ता, पालक, स्रष्टा।
करो हमारे ग्राम, नगर, सम्पूर्ण राष्ट्र में सुखकर शान्ति,
हृष्ट-पुष्ट नीरोग नारि नर बालक, बूढ़े पाएँ कान्ति।
द्विपद-चतुष्पद सब प्रसन्न हों, हो धन-धान्य प्रजा परिपूर्ण,
हो सब का कल्याण कहीं भी रहे न कोई रिक्त, अपूर्ण।
करो देव स्वीकार हमारे अंजलि बँधे प्रार्थना-फूल।
बनें कमल सम सुखद हमारे लिए आपका क्रूर त्रिशूल।।

---

1. हरिकेश—रुद्र का नाम = हरितवर्ण तथा नीले केश वाला

## *इकतालीस*

**विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणाधृताम्**
**शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा।**

अथर्व. **12.17**

(विश्वस्वम्) सबको उत्पन्न करने वाली (ओषधीनाम्) सब प्रकार के अन्न औषधियों की (मातरम्) माता (ध्रुवाम्) स्थिर रहने वाली (भूमिम्) सबको आश्रय देने वाली (धर्मणा) धर्म से (धृताम्) धारण की हुई (शिवाम्) कल्याण करने वाली और (स्योनाम्) सुख देने वाली (पृथिवीम्) अपनी मातृभूमि की (विश्वहा) सब प्रकार से, सर्वदा (अनुचरेम) हम सेवा करते रहें।

विश्व प्रसू माँ धरा तुम्हें शत-शत प्रणाम हैं।।
सब प्रकार के अन्न औषधी,
भरे दुकूलों में रहती हो।
गोदी के नन्हे बच्चों-सी,
बड़ी-बड़ी चोटें सहती हो।
तुम स्थिर आश्रय सुखद तुम्हारा पुण्य नाम है।।
वन में हरिण गुफा में नाहर,
नीड़ों में पंछी सोते हैं।
नदी, कूप, पोखर, तड़ाग में,
सूरज चाँद पलक धोते हैं।
मृदुल दलों पर किरणों की चितवन ललाम है।।

हिम-शिखरों के सभा कक्ष में,
सरिताएँ भाषा गढ़ती हैं।
सागर की फेनिल लहरों पर,
नौकाएँ जादू पढ़ती हैं।
पवन खोलती भोजपत्रिका सुबह शाम है।।
मातृभूमि मृत्तिका तुम्हारी,
चंदन गंध अबीरों वाली।
इसके कण-कण में खिलती है,
जीवन की मधुरिम शेफाली।
इस पर विचर रहे हैं हम सब आप्तकाम हैं।
सेवा में कर रहे समर्पित धान्य धाम हैं।।

### *बयालीस*

**गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु**
**बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमि पृथिवीमिन्द्र गुप्ताम्**
**अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।**

**अथर्व. 12.1.11**

तेरा पावन भाल सुशोभित हिम नग के शिखरों से,
तेरे भुजपाशों में वन, उपवन, तृण, विटप, लताएँ,
भूरी, काली, अरुण, सलेटी बहुवर्णा चट्टानें,
दृढ़ीभूत स्थिर देवराज के अमित शौर्य से रक्षित,
करती हैं निर्माण तुम्हारा बज्र कठोर कलेवर,
वह अजेय, अक्षत, अरिमर्दक और अनाहत,
खड़ा हुआ तेरी पय-फेलिन छाती पर मैं स्वयं वत्स-सा,
क्षमा करो माँ चरणभार से ममता की दूर्वा दवती है।

माँ मेरा फिर से प्रणाम लो, ये विशालतम हिमनद,
लिखते हैं जयगान तुम्हारा विपुल वारिधारा से,
ब्रह्मकमल से भरी तुम्हारी दिव्य अरण्यानी हैं,
मन्दारों के पुष्पगुच्छ जिनमें अल्पना बनाते,
निर्विकार योगी से स्तंभित भूर्जपत्र के तरु हैं।
करते हैं शृँगार तुम्हारा हंस, गरुड़, सारसगण,

देवदारु के पुष्ट तनों पर लिपट-लिपट आह्लादित,
बाल समीरण चीड़, शाल, कीचक रन्ध्रों में स्वर भर,
इठलाता दौड़ा करता है तुमको गीत सुनाने।
कहीं पारदर्शी पानी में पकड़ छाँह सूरज की,
पके हुए धानों की कलगी बुनती वस्त्र तुम्हारा
और तुम्हें मैं रजत चाँदनी का कंठा
पहनाकर खो जाता हूँ कीर्ति-कन्दरा में भविष्य को
चुनने—
वह भविष्य जो मिट्टी पत्थर, लकड़ी, लोहे से
मिलकर, करता है आबाद बस्तियों, नगरों और
ग्राम, राष्ट्रों को, संस्कृतियों के अनन्त
इतिहासों को रचता है।
तू धात्री है उसी अमिट इतिहास पुरुष की,
तू संस्कृति का मेरुदण्ड, भूगोल राष्ट्र का।
तू दर्शन समाज का, संवेदन का पूंजीभूत वृक्ष तू
तुझे हमारी परम्पराओं का प्रणाम है।
पितृभूमि तू, मातृभूमि तू,
पुण्यभूमि तू, देवभूमि तू।

## *तैंतालीस*

**यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात्**
**स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः ।**

(भूमे) हे मातृभूमि (याः) जो (ते) तेरी (प्राचीः) पूर्व की ओर की (प्रदिशः) दूर-दूर तक फैली हुई दिशाएँ हैं (याः) जो (उदीचीः) उत्तर की ओर की (याः) जो (ते) तेरी (अधरात्) दक्षिण की ओर की (च) और (याः) जो (पश्चात्) पश्चिम की ओर की दिशाएँ हैं (ताः) वे सब (चरते) तुझ पर विचरण करते हुए (मह्यम्) मेरे लिए (स्योनाः) सुख़ देने वाली (भवन्तु) हों (भुवने) इस तुम्हारे संसार में (शिश्रियाणः) आश्रय ले रहा मैं (मा) मत (निपप्तम्) उन्नति के पथ से पतित होऊँ।

सुरक्षित रहें राष्ट्र की हर दिशाएँ।

उधर सिंधु दक्षिण, है उत्तर हिमालय,
कहीं गन्धमादन, कहीं हैं शिवालय,
गगन में उड़ें या चलें पूर्व पश्चिम,
मिलेंगी हमें दिग्विजय की कथाएँ।।

छिपाए हुए वक्ष में कोश कितने,
रजत, स्वर्ण, हीरक, अयस् ताम्र जितने।
नहीं धूल-पाषाण की मूर्ति है यह
हमें देवसम हैं यहाँ की शिलाएँ।

अरी मातृभू  वन्दना है तुम्हारी,
तुम्हीं राष्ट्र की कल्पना हो हमारी,
तुम्हारे सुभग रूप की अर्चना में,
सिरों को चढ़ाएँ न हम हिचकिचाएँ।

जिधर भी चलें हम उधर शान्ति जय हो,
हमारे सिपाही अटल हों अजय हों।
शपथ है हमें दृढ़व्रती पूर्वजों की
न पीछे हटें हम कदम जो बढ़ाएँ।

## *चवालीस*

**इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः**
**षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।**
**यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः।**

**अथर्व. 19.1.9**

इमानि यानि=ये जो, पञ्चेन्द्रियाणि=पाँच इन्द्रियाँ, मनः=मन षष्ठानि=छठा, मे हृदि=मेरे हृदय में, ब्रह्मणा संशितानि=चेतन आत्मा नियन्ता द्वारा प्रेरित हैं। यैरैव=जिनके द्वारा ससृजे घोरं=पापावह कर्म किए जाते हैं, तैरैव=उन्हीं इन्द्रियों द्वारा शान्तिरस्तु=घोर कर्मों की शान्ति हो, नः=हमारे लिए।

पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन,
आत्म-नियन्ता से प्रेरित।
करते हैं सब कर्म शुभाशुभ,
क्षण-भर भी होते न विरत।
मन के बिना इन्द्रियों द्वारा,
होते हैं जितने भी कार्य।
पाप-पुण्य उत्पन्न न होते
उनसे, यह कहते जन आर्य।
घोर-अघोर पाप-पुण्यों के
उत्पादक मन, करण-समूह।[1]

1. करण=इन्द्रियाँ

रचते हैं कर्तृत्व प्रेरणा से,
सुख दुःख भावों के व्यूह।
सावधान होकर जो साधक,
करते हैं मन का उपयोग।
उनके जीवन में होता है,
अमर शान्ति का सतत प्रयोग।
हे मन, बुद्धि, हृदय के स्वामी,
दो मुझको ऐसा वरदान।
अक्षय शान्ति सिन्धु के तट पर
करूँ बैठ कर मैं रसपान।

## *पैंतालीस*

**पूर्णा पश्चादुत पूर्णा परस्ताद् उन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय,**
**तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम।**

अथर्व. **7.80.1**

(पश्चात्) पश्चिम में (पूर्णा) पूर्ण (उत) और (पुरस्तात्) पूर्व में तथा (मध्यतः) मध्य में (पूर्णा) पूर्ण (पौर्णमासी) पूर्णिमा (उत्‌जिगाय) उदित होकर विजयिनी हो रही है। (तस्यां) उसमें (देवैः) दैविक गुणों से (संवसन्तः) सम्यक् रूप से व्याप्त हुए (महित्वा) महिमापूर्वक (इषा) विज्ञान अर्थात् आत्मबोध द्वारा (नाकस्य पृष्ठे) मोक्ष लोक के पृष्ठ पर (सं मदेम) सम्यक् आनन्द प्राप्त करें।

चाँदनी छिटकी चारों ओर,
तपन-कण चुगते सिद्ध चकोर,
सीपियों पर कर रजत प्रलेप,
पूर्णिमा हुई रंगिणी आज।।
नील नभ-सर में खिला मयंक,
दमकने लगा तारकित पंक,
विभा का पाने को मृदु स्पर्श,
कुमुद का लगा सिहरने अंक।
पूर्व, पश्चिम में फैला पूर्ण,
मध्य में भी चाँदी का चूर्ण,
दिशाओं ने साजा नव साज।

जगा देवों का सरल समाज।।

हमारे साधक मन का व्योम,
हो गया शुद्ध त्याग तम तोम,
दिव्य दैविक भावों से पूर्ण,
उगा जब आत्मबोध का सोम।

इन्द्रियाँ धुल कर हुईं पवित्र,
भद्र भावों के उकरे चित्र,
मुक्ति का खुला अनूठा पृष्ठ,
बना तेजस्वी शुद्ध चरित्र
प्राप्त कर पूर्ण शान्त आह्लाद
जितेन्द्रिय लघु से बना विराज।।

करें हम भी देवों का ध्यान,
ब्रह्म का करें सतत सन्धान,
ज्ञान की शुभ्र पूर्णिमा बीच,
मिला हमको संयम का दान।

करें हम मुक्ति लोक को प्राप्त
मिले हमको अविचल साम्राज्य।

## *छियालीस*

**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्**
**सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः, तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।**

यजु. **34.55**

(शरीरे सप्त ऋषयः प्रतिहिताः) शरीर में सात ऋषि बैठे हुए हैं। (सप्त सदं अप्रमादं रक्षन्ति) सात हैं जो सद (यज्ञशाला) की प्रमाद रहित होकर रक्षा करते हैं। (स्वपतः सप्त आपः लोकं ईयुः) सुषुप्तावस्था में ये सात ज्ञान-प्रवाह अपने लोक में लीन हो जाते हैं। (तत्र च) तो वहाँ भी (सत्रसदौ) यज्ञ में बैठे रहने वाले (अस्वप्नजौ) कभी न सोने वाले (देवौ) दो देव (जागृतः) जागते रहते हैं।

तन की यज्ञभूमि में बैठे,
करते हैं ऋषि सात यजन।।
सुनना, छूना, स्वाद, सूँघना,
और देखना सुन्दर दृश्य।
सृष्टि-यज्ञ में पंचवृत्तियाँ,
बनती इनका मधुर हविष्य।
शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध,
मन, बुद्धि कर रहे नित्य हवन।

अप्रमाद हो करते रहते,
यज्ञ-भूमि की ये रक्षा।

इनसे सावधान तन रक्षक,
अन्य नहीं प्रहरी अच्छा।
संकल्पों के रथ पर चढ़ कर,
करते हैं ये नित्य अटन।।

जब सुषुप्ति में हो जाते हैं,
ये अपने लोकों में लीन।
तब दो देव जागते रहते,
निद्रा जयी शान्त सुखलीन।
आत्म, प्राण दो देव कर रहे,
हर क्षण बैठे सतत भजन।।

## *सैंतालीस*

**मधुमन्मे निक्रमणं, मधुमन्मे परायणम्**
**वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधुसन्दृशः।**

अथर्व. **1.34.3**

(मे) मेरा (निक्रमण) निकट जाना, प्रवृत्तिरत होना (मधुमत्) माधुर्यपूर्ण हो तथा (मे) मेरा (परायण) दूर जाना, निवृत्ति स्वीकार करना (मधुमत्) माधुर्यपूर्ण हो। (वाचा) वाणी (वदामि) बोलता हूँ (मधुमद्) मीठी। इसीलिए हे मधुस्वरूप परमात्मन् मैं (मधुसन्दृशः) मधु की तरह मनोहर, आकर्षक, सर्वप्रिय (भूयासम्) हो जाऊँ।

पास हूँ या दूर तुम से,
हो मधुर व्यवहार मेरा।।
फूल, कलियों की मधुर छवि,
हो रहे आकृष्ट मधुकर।
गिरि-शिखर से हैं उतरते,
मधु भरे जल-स्रोत निर्झर।
मृण्मयी भू से हुआ है,
इसलिए चिर प्यार मेरा।।
यदि कहीं मिलता गरल है,
तो मुझे वह भी सरल है
दूर जा कर भी न मिटती,
रूप की तृष्णा तरल है।

व्यंग्य बाणों से विंधा मन,
बन गया श्रृँगार मेरा।।
शत्रु हो या मित्र अपना,
हो निकटतम या पराया।
शूल हो या फूल जो भी,
है सदा उर में बसाया।
मैं मधुर भाषी उसे दूँ,
मधु बना जो भार मेरा।।
कर रहा है जो सतत,
अपमान या अपकार मेरा।।

## *अड़तालीस*

**यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः**
**सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह।**

अथर्व. **12.1.39**

(यस्याम्) जिस हमारी मातृभूमि में (भूतकृतः) भूतकाल का निर्माण करने वाले (सप्त) विविध व्यवहार करने वाले (वेधसः) नई नई रचना करने वाले (पूर्वे) हमारे पूर्वज (ऋषयः) तत्त्वदर्शी लोग (सत्रेण) सत्पुरुषों की पालना करते हुए (यज्ञेन) यज्ञ और (तपसा) तप के (सह) साथ (गाः) उत्तम वाणी (उदानृचुः) बोलते रहते हैं, वह मातृभूमि अभिनन्दनीय है।

यह मातृभूमि ऋषि मुनियों की
कल्पनाशील नव कवियों की।।
रच भूतकाल उन्नत महान्,
अध्यात्म, ज्ञान, सुख गुण निधान,
गहरे तत्त्वों का अन्वेषण,
करके लाए स्वर्णिम बिहान।
जिनके तप ने आँखें खोलीं,
चिन्तन रस लोभी अलियों की।

ये पुरखे सप्त यज्ञ कर्ता,
जन हित व्यवहारों के भर्ता,

कर्त्तव्य मार्ग का कर पालन,
बनते पापों के संहर्ता,
क़रते उपदेश श्रेष्ठता का,
ले वृत्ति सुरभिदा कलियों की।।

ये यज्ञरूप उपकार निरत,
करते हैं राष्ट्र जनों का हित,
इनका अति उज्ज्वल वर्तमान,
इनका भविष्य वैभव संचित,
इनके गुण गौरव के आगे,
है गलती दाल न छलियों की।।

*उनचास*

**यत्ते पवित्रमर्चिषि, अग्ने विततमन्तरा**
**ब्रह्म तेन पुनातु मा।**

**यजु. 19.41**

(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिषि अन्तरा) ज्वाला के अन्दर (पवित्र) पवित्र (ब्रह्म) ब्रह्म (विततं) विस्तीर्ण है, (तेन) उससे (भवान्) आप (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करें।

यज्ञ-कुण्ड में हव्य गन्ध से सुरभित अग्नि शिखाएँ,
स्वर्ण गर्भ की मुस्काहट से मेरा मन हर लेतीं।।
दीप-ज्योति में वह हँसता है,
विद्युत वन घन में बसता है,
उषा काल में हेम-रश्मि सा,
जल-थल में आभा भरता है।
जब प्रकाश का पुंज गगन में रवि मण्डल बन जाए,
तब वह अग्निमूर्ति निज छवि से उर आँगन भर देती।।
बृहत् ब्रह्म लपटों में फैला,
देता सबको तेज अकेला,
वह हीरे की ज्योति प्रखरतम,
उसका दाह न जाता झेला।

उसकी आभा से आलोकित जब जीवन हो जाए,
निष्कलंक झाँकी उस छवि की मन निर्मल कर देती।।

हे वैश्वानर तुम ईश्वर हो,
जग नश्वर तुम अजर अमर हो,
मुझ को करो पवित्र पुण्यमय,
तुम पवित्र छवि के निर्झर हो।

अर्चि तुम्हारी जब होता के अन्तर में लहराए,
तब वह मिट्टी को भी चिन्मय होने का वर देती।।

•

## *पचास*

**अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे**
**स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु।**

**अथर्व. 19.64.1**

(अग्ने) हे अग्ने तुझ (बृहते) बहुत वड़े (जातवेदसे) जातमात्र के जानने वाले ज्ञानयुक्त के लिए मैं (समिध) समिधा को (आहार्ष) आहरण करता हूँ, लाता हूँ। (सः) वह (जातवेदाः) ज्ञानयुक्त अग्नि (मे) मुझे (श्रद्धां च) श्रद्धा को भी (मेधां च) मेधा को भी (प्रयच्छतु) प्रदान करे।

समिधाओं के पुण्य होम से होती जैसे अग्नि समिद्ध,
समिधा में अन्तर्हित ज्वाला हो जाती जैसे उद्‌बुद्ध,
वैसे ही साधक समिधा बन ज्ञान-अग्नि को करे प्रदीप्त,
श्री आचार्य चरण युगलों में बैठ किन्तु हो वह उपनीत।।
तेजस्वी होने से पहले करनी होगी अहमिति दग्ध,
बिना पूर्ण श्रद्धा के मेधा होती नहीं कभी उन्मुक्त,
जिन्हें ज्ञान हो चुका पूर्ण है, वह हैं जातवेद आचार्य,
ज्ञान-ज्वाल से स्वयं प्रज्वलित करते वह दीपन का कार्य।।
तन, मन और आत्म-दीपन हित लाया हूँ समिधाएँ तीन,
राष्ट्र, समाज, व्यक्ति संवर्धन का लेकर व्रत परम प्रवीण,
हे उत्पन्न मात्र के ज्ञाता जातवेद् आचार्य महान्,
अग्नि-रूप तुम ज्ञान-दान दे करो हमारा चिर कल्याण।।

## *इक्यावन*

**तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि**
**ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्**
**अनुल्बणं वयत जोगुवामपो**
**मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ।**

**ऋक्. 10.53.9**

(रजसः) अपने ज्योति के, ज्ञानप्रकाश के (तन्तु) ताने को (तन्वन्) तानता हुआ तू (भानु) सूर्य तक, ब्रह्म लोक तक (अनुइहि) अनुसरण करता चला जा। इस प्रकार (धिया कृतान्) ज्ञानियों या ऋषि गणों द्वारा दिखाए गए (ज्योतिष्मतः पथः) ज्ञानमार्ग, सुपथ की तू (रक्ष) रक्षा कर, अनुसरण कर। इस ताने में (जोगुवा) भक्तों के (अपः) सुकर्म (अनुल्बण) एकसार ग्रन्थि रहित बुन (वयत)। (मनुः भवः) तू मननशील हो और (दैव्यं जनम्) दिव्य जन के जीवन को, इस दिव्य जीवन रूपी वस्त्र को (जनम) बुन, पैदा कर।

हे जुलाहे रश्मियों के तन्तुओं का तान ताना।

ज्ञान के शुचि सूत्र भू से देख नभ पर्यन्त फैले।
ये रजोगुण या तमोगुण से कभी होते न मैले।।
तू इन्हें पकड़े हुए आदित्य तक करघा बिछाना।

ऋषि गणों ने ब्रह्म की अनुभूति का अँचरा बुना जो,
दिव्य जीवन का सुपट शुभ कर्म रंगों से सना जो,
बुद्धि-कौशल से उसे तू देह पर अपनी सजाना।।

प्रेम से सेवा सभी की भक्त जन करते सदा हैं।
जिस तरह निष्काम जन-हित पवन, जल अथवा मृदा हैं।
तू मनन कर है नहीं, नश्वर जगत् अन्तिम ठिकाना।।

स्वर्णतारों की प्रभा से बुद्धि, मन, चित, प्राण भर ले,
आत्मचिन्तन के लिए इस ज्योति से तम दूर कर ले,
ब्रह्मवर्चस् का सुपथ होगा न तब तुझको अजाना।

*बावन*

**यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः**
**तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्चतः।**

**यजु. 40.7**

(यस्मिन्) जिस ज्ञान पूर्ण दशा में (सर्वाणि भूतानि) समस्त जातमात्र पदार्थ प्राणी (आत्म एव) आत्मा ही (अभूत) हो जाते हैं, उस स्थिति में (तत्र) (एकत्वमनुपश्चतः) आत्मा की एकता के कारण एकत्व का अनुभव करने वाले (विजानतः) ज्ञानी पुरुष के लिए (कः मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन सा शोक रह सकता है ?

वही समुन्नत स्थिति है जिसमें,
लगते सब पदार्थ हैं एक।
आत्मरूप हो सभी दीखते,
जग उठता है विमल विवेक।।

आत्मतत्त्व के उस द्रष्टा को,
माया कभी न पाती रोक।
उसके लिए न होता जग में,
निर्मम मोह कष्टकर शोक।।

द्वैत बुद्धि दिति जिन में करती,
अपना और पराया भेद।

वही दानवों की स्थिति में पड़,
भोग-भोग कर पाते खेद।।

पर अद्वैत भाव से जिनके,
होते देवोपम व्यवहार।
उन समदृष्टि अदिति पुत्र को,
रहता सुलभ मोक्ष का द्वार।।

आत्मभाव से जातमात्र में,
जो देखा करता निज रूप।
शब्दातीत कही जाती है,
उस ज्ञानी की दशा अनूप।।

## *तिरेपन*

**वयमिन्द्र त्वायवो, हविष्मन्तो जरामहे**
**उत त्वमस्मयुर्वसो।**

**ऋक्. 3.41.7**

(इन्द्र) हे परमात्मन् (त्वायवः) तुझसे अनन्यता स्थापित करने वाले (वय) हम (हविष्मन्तः) प्रशस्त हवियों से युक्त, आत्मसमर्पण से पूर्ण (जरामहे) तेरी उपासना करते हैं, अपनी सत्ता को मिटाकर केवल तेरा अनुभव करते हैं। (उत) और (वसो) हे कण-कण में व्याप्त निवासक प्रभु (त्वं) तू (अस्मयुः) हम बन जा। हममें और तुझमें कोई भेद नहीं रहे क्योंकि अभेदता का अनुभव ही मुक्ति का कारण है।

गन्ध भी हूँ फूल भी हूँ।।

मैं प्रभाकर की प्रभा भी।
मैं विभाकर की विभा भी।
मैं धरा का प्राण रस भी

मेघ भी हूँ धूल भी हूँ।।

मैं शरणदाता शरण भी।
हव्य भी होता, हवन भी।
प्यास हूँ मैं तृप्ति भी हूँ।

धार भी हूँ कूल भी हूँ।।

मैं वही हूँ जो स्वयं तुम,
मिट गया है द्वैत का भ्रम,
भक्त भी भगवान भी मैं

याद भी हूँ भूल भी हूँ।।

देव हम तुम एक हैं जब,
पूज्य पूजा व्यर्थ हैं तब
दृश्य भी द्रष्टा, जगत् भी

और जग का मूल भी हूँ।।

•••

## डॉ. विष्णुदत्त राकेश

भारतीय साहित्य तथा पुराविद्याओं के पण्डित। जोधपुर विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. तथा विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से डी. लिट्. की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत। काशी में प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन तथा सम्प्रति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के आचार्य एवं मानविकी संकाय के अधिष्ठाता। चारों वेदों के हिंदी काव्यांतरण के कार्य में संलग्न।

### प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ

श्रुतिपर्णा *(काव्य)*
देवरात *(मध्य प्रदेश सरकार के भवानी प्रसाद मिश्र अखिल भारतीय काव्य पुरस्कार से सम्मानित)*
पर्णगन्धा *(काव्य)*
उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास
आचार्य कुलपति मिश्र : व्यक्तित्व और कृतित्व
रीतिकाल के ध्वनिवादी हिंदी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन
पंत का सत्यकाम
आधुनिक हिंदी लेखन की ऊर्जा
आचार्य श्रीचंद्र : सिद्धांत, साधना और साहित्य
आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और हिंदी शब्दशास्त्र
वैदिक साहित्य, संस्कृति और समाजदर्शन
दश महाविधा मीमांसा
भारतीय अस्मिता और राष्ट्रीय चेतना के आधार आद्य शंकराचार्य
तुलनात्मक साहित्यशास्त्र